इतिहास: क्यों-क्या-कैसे

लाल बहादुर वर्मा

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

इतिहासः

क्यों-क्या-कैसे

लाल बहादुर वर्मा

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

समर्पित

उन विद्यार्थियों को जो
इतिहासबोध के साथ इतिहास
निर्माण में अपनी भूमिका तय
करना चाहते हैं।

अनुक्रम

1. इतिहास क्यों: यानी इतिहास की जरूरत ही क्या है? 7

2. इतिहास क्या: यानी इतिहास की प्रकृति और अन्तर्वस्तु क्या है? 13

3. इतिहास कैसे: यानी इतिहास की रचना कैसे होती है? 34

4. इतिहास की आम समस्याएं 45

5. भारत में इतिहास 52

6. जनमानस में दर्ज इतिहास 84

7. किसिम-किसिम का इतिहास 93

8. इतिहास निर्माता जन 103

9. अतीतग्रस्तता और इतिहासबोध 113

10. कैसा हो इतिहासकार : राहुल सांकृत्यायन 118

11. इतिहास में भी दलित 122

कुछ उपयोगी ग्रंथ

बस दो शब्द

किसी भी देश को यदि विदेशी सत्ता से मुक्ति के बाद वास्तव में नव-निर्माण की ओर आगे बढ़ना हो तो उसे निश्चित ही नए समाज में नए इंसान के निर्माण में लगना चाहिए। उसके लिए परिवर्तन के केन्द्र घर-परिवार और शिक्षालय ही हो सकते हैं। इसके लिए वहां का माहौल, वहां की व्यवस्था-संचालन और उपलब्ध उपकरण बदलने जरूरी होते हैं। शिक्षा के लिए उपयुक्त जागरूक शिक्षक और विद्यार्थियों की मातृ-भाषा में शैक्षिक उपकरणों की उपलब्धता अनिवार्य है। विडम्बना यह है कि इस क्षेत्र में पिछले साठ वर्षों में मूलभूत परिवर्तन नहीं हुए। दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र के शिक्षालय सृजनशील जनतांत्रिक और आधारभूत संस्थाएं नहीं बन सके। सबसे उजागर कमी तो हिन्दी में उपयुक्त पठन-सामग्री की अनुपलब्धता है। इस दिशा में देश के कुछ बेहद अर्थवतापूर्ण परियोजनाओं में है दिल्ली विश्वविद्यालय का हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय का काम। इसलिए जब उसके लिए इतिहास के बेहद सारभूत विषय पर विद्यार्थियों के लिए एक पुस्तक तैयार करने का अवसर आया तो मैंने उसे दोनों हाथों से थाम लिया। यह पुस्तक मेरे पेरिस विश्वविद्यालय में किए गए काम और इसी विषय पर मेरी पहली पुस्तक पर आधारित है पर इसका दूसरा संस्करण निश्चित ही और सुनियोजित और परिष्कृत होगा।

आशा है इस पुस्तक को विद्यार्थी उपयोगी पाएंगे और शिक्षक इसकी सर्जनात्मक समीक्षा कर ऐसे सुझाव देंगे जिनके आधार पर मैं इसे यथा-सामर्थ्य बेहतर बना सकूंगा।

उन सबके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूं जिन्होंने इस प्रयास को संभव बनाया है।

1 मई, श्रम दिवस 2010

लाल बहादुर वर्मा
पूर्व-प्रोफेसर इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इतिहास का विषय अतीत है पर उसका परिप्रेक्ष्य वर्तमान का है। जब इटली के विख्यात विचारक क्रोचे ने लिखा था कि समस्त 'इतिहास समकालीन होता है' तो कुछ विचारकों को लगा था कि वह अतीत पर वर्तमान की वरीयता थोप रहा है और इस तरह इतिहास की वस्तुनिष्ठता को गौण बना रहा है और इसीलिए उसका प्रतिपाद्य स्वीकार्य नहीं है। अगर ऐसा वास्तव में हो भी तो क्या हम उसे इसीलिए नकारेंगे कि इससे इतिहास की वस्तुनिष्ठता पर जोर कमजोर होता है? अब तो वस्तुनिष्ठता एक मात्र मानक भी नहीं रहा क्योंकि विज्ञान तक में निरपेक्ष वस्तुनिष्ठता पर प्रश्न उठ गए हैं। कुल मिलाकर इतिहास वर्तमान के लिए ही होता है। यह जरूर है कि उसे 'वर्तमान-ग्रस्त' नहीं होना चाहिए, यानी वर्तमान के लिए अतीत का मनमाना इस्तेमाल नहीं होना चाहिए। यह समाज के लिए घातक होता है।

इतिहास की अर्थवत्ता इससे नहीं तय होती कि वह कितना वस्तुनिष्ठ है। यह तो अकादमिक जगत का मुद्दा है। जन-इतिहास यानी वह इतिहास जो जनता का और जनता के लिए है वह इस रूप में अभिव्यक्त होता है कि 'दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है', वह तो अपने अन्तर्वस्तु और रूप में इस तरह रच-पच जाता है, वहां किंवदंतिया, लोक कथाएं, गाथाएं, मिथक और इतिहास सब खिचड़ी में घी की तरह घुल मिल कर एक हो जाते हैं, खासतौर पर भारत जैसे देश में। यहां कक्षा से बृहत्तर समाज तक इतिहास को इस तरह ले जाने की आवश्यकता है कि इतिहास की अर्थवत्ता–उसके उपयोग और दुरुपयोग तथा मनुष्य के मानस के निर्माण में इतिहास की अनिवार्य भूमिका चिह्नित हो जाए और लोग किंवदंतियों, गाथाओं, मिथकों और इतिहास के बीच अंतर करना समझ जाएं।

इतिहास के विद्यार्थियों के लिए थोड़े विस्तार में जाने की भी जरूरत होती है। उनके लिए इतिहास के क्यों, क्या और कैसे के साथ-साथ इतिहास की विभिन्न अवधारणाओं, उनकी विकास यात्रा, भारत में इतिहास की अवधारणा के उद्विकास आदि को भी ठीक से जान-समझ लेना जरूरी है। यह किताब मुख्य रूप से विद्यार्थियों के लिए ही लिखी गई है पर इस बात का ध्यान रखा गया है कि किताब घर में पड़ी है तो घर के दूसरे छोटे-बड़े सदस्य भी पन्ने पलटें तो उनकी जिज्ञासा भी जाग सके।

विषय प्रवेश

दुनिया आज जहां भी पहुंची है 'क्यों', 'क्या' और 'कैसे' जैसे सवालों के जवाब ढूंढ़ती हुई ही पहुंची है। इनके जवाबों से ही हमारी जानकारी बढ़ी है जो धीरे-धीरे हमारी समझदारी बनती गई है- लेकिन बहुत धीरे-धीरे। साथ उसके विवेक बनने की प्रक्रिया तो और धीमी है। यही धीमापन तो हमें समाधान तक नहीं पहुंचने दे रहा, और जीवन को उच्चतर और बेहतर स्तर तक नहीं ले जाने दे रहा। सूचना, ज्ञान और विवेक (इनफॉर्मेशन, नॉलेज और विजडम) मनुष्य की गुणवत्ता के मानक हैं- इसमें निश्चित ही विवेक- 'नीर-क्षीर विवेक', यानी दूध का दूध और पानी का पानी करने का विवेक, ही सबसे अधिक निर्णायक है। परन्तु दुनिया सूचना क्रांति, यानी सबसे निचले स्तर पर, फंसी लगती है। अधिक से अधिक 'ज्ञान शक्ति है' (नॉलेज इज पावर) की बात की जाती है। जबकि शक्ति का स्रोत विवेक होना चाहिए। पर विवेक तो जनतांत्रिक होता है उसे कुछ लोग अपनी मुट्ठी में बन्द नहीं रख सकते, जबकि सूचना और ज्ञान को 'मैनीप्यूलेट' किया जा सकता है-किया जा रहा है। इसीलिए शासक लोग विवेक नहीं सूचना की बात करते हैं।

और विवेक का सबसे बड़ा स्रोत है इतिहासबोध, यानी इतिहास के 'क्यों', 'क्या' और 'कैसे' की समझ, यानी अतीत की मदद से वर्तमान को समझने और भविष्य को संवारने की समझ। **नेपोलियन** जैसे इतिहास निर्माता और इतिहासहन्ता को यह समझ आ गई थी। इसीलिए उसने कहा था- 'इतिहास ही विवेक है।' जब तक उसने इस विवेक का इस्तेमाल किया, वह 'क्रांति पुत्र' बना रहा। पर जैसे ही उसने अपने तात्कालिक हित को अधिक महत्व देना शुरू किया वह 'इतिहास हन्ता' बनता बनता इतिहास में खोता गया।

उसी इतिहास-विवेक को आज बौद्धिक एजेन्डे पर सबसे पहले प्रतिष्ठित करने की जरूरत है- केवल एक अकादमिक डिसिप्लिन के रूप में नहीं, ज्ञान मीमांसा की पूर्वशर्त के रूप में, और जनतंत्र के समुचित विकास की रचना-प्रक्रिया के रूप में भी।

इतिहास-विवेक की स्थापना फिलहाल कठिन लग सकती है क्योंकि 'आज' की चूहादौड में फंसी दुनिया में किसे फुरसत है बीते कल की फिक्र करने की? आने वाला कल भी तो कल तक ही सीमित है- बरसों को कौन कहे परसों तक की सोचने की फुरसत नहीं है। पर अगर हम दौड़ में पलभर भी थम कर सोचें कि आज तो कल की नींव पर ही खड़ा है और आने वाला कल लगातार आज बनता जा रहा है तो अतीत, वर्तमान और भविष्य अनिवार्य रूप से अविभाज्य लगने लगेंगे।

1. इतिहास क्यों यानी, उसकी जरूरत ही क्या है?

इक्कीसवीं सदी में जब दुनिया आने वाले कल की ओर भागी जा रही है बीते कल की ज़ंजीर की क्या जरूरत? लेकिन अगर वास्तविकता यह हो कि बीते कल में ही सभी तरह की जंजीरों और उनके काटने के उपायों के स्रोत दबे पड़े हैं तब तो वहां तक जाना पड़ेगा न? यही तो काम है इतिहास का, समाज को बताना कि आदमी गुफाओं से खलाओं (अंतरिक्ष) तक कैसे पहुंचा है और इतनी सारी जंजीरें तोड़ता हुआ भी। आज भी जितनी जंजीरें तोड़ी हैं उससे ज्यादा से ही बंधा लगता है। इतिहास ही रूसो की उक्ति- 'मनुष्य मुक्त ही पैदा होता है पर हर कहीं जंजीरों में बंधा है' का मर्म बताता है।

साहित्य और कुछ नहीं करता तो मनोरंजन ही करता है। विज्ञान नौकरी दिलवाता है। अर्थशास्त्र से घर का बजट और समाजशास्त्र से घर का स्वरूप और समाज से रिश्ता समझ में आ जाता हो शायद, यानी, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य का संबंध उससे है जिसका अस्तित्व है। इतिहास का, अतीत का, तो कोई प्रत्यक्ष अस्तित्व है नहीं। इतिहास का संबंध उससे है जो 'था'। हम तो 'हैं', फिर 'था' का क्या करें?

सामान्यतः ऐसा सोचा जाता रहा है कि जिस चीज की कोई तात्कालिक और प्रत्यक्ष उपयोगिता न हो उसका होना न होना बराबर है। यानी कुल सवाल उपयोगिता का है। वही निर्णायक है।

इतिहास की उपयोगिता : इसके पहले कि हम इतिहास को वैचारिक-दार्शनिक दृष्टि से उपयोगी सिद्ध करें आइए, हम अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टि से देखें कि इतिहास की उपयोगिता क्या है? सबसे पहले जो बात ध्यान में आती है वह यह कि फार्मों वाले देश में कोई भी फार्म लें उसमें प्रार्थी के नाम के बाद के दो-तीन कॉलम महत्वपूर्ण होते हैं, बाप का नाम, जन्मतिथि, पता आदि। हमें तो महज प्रार्थी से मतलब है। तो फिर अन्य विवरणों की क्या आवश्यकता? पर हम जानते हैं कि बिना बाप के पहचान ही पूरी नहीं होगी। हमारी पूरी पहचान के लिए हमारी जन्मतिथि और पता भी जरूरी है यानी हमें काल (जन्मतिथि) और देश (पता) में स्थापित करके और हमें आपने अतीत यानी बाप से जोड़ा जाता है ताकि शिनाख्त हो सके। उपर्युक्त तीन

बातों से जुड़े बगैर मेरा परिचय और मेरा अस्तित्व पहचान नहीं बन सकता, यानी वर्तमान बिना अतीत से जुड़े अनाम, अस्वीकृत, अज्ञात और अज्ञेय बना रहेगा।

पॉल वाइस के अनुसार अपने को अतीत से जोड़ने में आनंदानुभूति होती है। मनुष्य अपने स्रोत की चेतना से अपने को आश्वस्त कर लेता है कि वह अकेला, निर्लम्ब नहीं है। मानव स्वभाव है कि वह किसी चीज को किसी परिप्रेक्ष्य में रखकर ही पहचान सकता है, उसे पूरी तरह समझ सकता है। अब तो 'सापेक्षता' विज्ञान की भी स्वीकृत धारणा है। कोई चीज किसी संदर्भ में ही मोटी, पतली, लम्बी, छोटी, अच्छी या बुरी होती है। किसी व्यक्ति की किसी और से तुलना कर उसकी अच्छाई या बुराई को रेखांकित और बोधगम्य बनाते है। दूसरे शब्दों में, तुलना और उदाहरण बुद्धि द्वारा विकसित बौद्धिक उपकरण हैं। साहित्य में भी उपमा और रूपक सरलीकरण और संप्रेषण के उपादान हैं और सौंदर्य बोध को समृद्ध करते हैं।

किसी समाज विशेष को कैसे जानें-पहचानें? एक तरीका होता है उसे अन्य समाजों के मुकाबले देखने का जैसे आज के भारत को आज के पाकिस्तान, चीन या अमेरिका के संदर्भ में देखने का या फिर आज के भारत को कल यानी प्रारंभिक काल, मध्यकाल या औपनिवेशिक काल के परिप्रेक्ष्य में देखने का। फिर आज के भारत को पश्चिमी समाज के बगल में खड़ा करके देखने की अपेक्षा आज को बीते कल से जोड़कर देखने में अधिक सही पहचान बनती है। इससे विकास धारा का, इतिहास की दिशा का पता चलता है। इसलिए वर्तमान को इतिहास से ही परिप्रेक्ष्य मिलता है। दूसरे शब्दों में, हम जानते हैं कि बिना दूरी लिए कोई चीज पूरी तरह दिखाई नहीं देती और वर्तमान से दूरी लेने का एकमात्र तरीका है उसे अतीत से जोड़कर उसी के क्रम में देखना।

अतीत के प्रति मनुष्य का नैसर्गिक लगाव होता है। इतिहास इस लगाव की पहचान स्पष्ट कर सकता है-मां से सहज ढंग से प्यार करना एक बात है और मां की अर्थवत्ता को समझना, उसका मूल्यांकन करना, दूसरी बात। वैसे ही अतीत से लगाव सबमें होता है-सहज, नैसर्गिक, लेकिन इतिहास उस लगाव को इतिहास-बोध में बदल सकता है, संवेदना और भावना के यथार्थ को बौद्धिक यथार्थ- ज्ञान और विवेक में विकसित कर सकता है। यानी उस लगाव को प्रासंगिक और उपयोगी बना सकता है।

इतिहास से सबक लेने की बात सबसे व्यावहारिक मानी जाती रही है। जैसे कोई आग से जला और यह समझदारी सबकी विरासत बन गई कि आग से आदमी जल सकता है। मुहम्मद तुगलक ने राजधानी बदली और तमाम मुसीबतें खड़ी हो गईं।

इसलिए ऐतिहासिक मुहावरा बना 'दिल्ली से दौलताबाद' और इसे यानी राजधानी परिवर्तन, यानी स्थान परिवर्तन को गलत मान लिया गया। इस सबक वाली बात में मुख्य खतरा यह है कि 'इतिहास की पुनरावृत्ति होती है', जैसी अवधारण पनपती है, जो गलत है। जैसे राजधानी बदलने में कठिनाई हो पर ऐसा करना हमेशा गलत नहीं है। कभी-कभी वह जरूरी भी होता है, सफल भी होता है। कलकत्ते से दिल्ली, इलाहाबाद से लखनऊ, बर्लिन से बॉन सफल राजधानी परिवर्तन रहे हैं। यह सबक वाली बात सीधे जुड़ती है इस मुहावरे से - 'दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंककर पीता है।'

यह अनुभवों के सार-संकल्प से लाभ उठाने का पुराना व्यवहारवादी तरीका है। कल्हण ने इन्हीं अर्थों में इतिहास की उपयोगी माना था। इसी अर्थ में इतिहास प्रेरणास्रोत बनता है- अतीत नायकों के चरित्र और उपलब्धियों के माध्यम से आज को प्रेरणा देता है। यहां भी खतरा यही होता है कि अगर इतिहास की पुनरावृत्ति वाली बात दिमाग में रही तो एक देश-काल में सफल नीति या व्यक्ति को अनुकरणीय मान लिया जा सकता है, जो घातक होगा। जैसे **अकबर** की धार्मिक नीति को सफल मानकर आज भी उसे लागू करने वाले मुंह के बल गिरते हैं। क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलनों के दौरान कांग्रेस की धार्मिक नीति या सरकारों की धर्मनिरपेक्षता अकबर की धार्मिक नीति की तरह रही है। उसी की तरह धर्मनिरपेक्षता का मतलब है 'सर्व धर्म समभाव'। लेकिन तमाम पर्दों के बावजूद यह तथ्य आंखों में घूरता है, अधिकांश लोगों के मनों में चोर की तरह बैठा रहता है और मौका पाते ही सेंध लगाता है और लोग भूल नहीं पाते कि सब कुछ करते हुए भी अकबर मुसलमान था और वही माना जाता रहा है। उसी तरह कांग्रेस, गांधी, नेहरू के बावजूद एक हिंदू-प्रधान संस्था रही है और आज की धर्मनिरपेक्षता भी हिंदू-प्रधान है। और यह गलत है।

इस प्रकार एक ओर इतिहास से सबक लेने की बात सच है तो दूसरी ओर गलत सबक लेने की बात भी सच है। और सबसे ज्यादा तो सच यह है कि **हीगेल** के अनुसार 'इतिहास की सबसे बड़ी सीख यही है कि इतिहास से कोई सीख नहीं लेता।' न स्वयं हीगेल ने कोई सीख ली, न उसके देश जर्मनी ने, न उसके विचारों के अनुयायियों ने।

अब आइए इतिहास की उपयोगिता को और गंभीरता से परखें। हम जानते हैं कि कारण कार्य संबंधों की तलाश में प्रकृति से आंकड़े जुटाकर प्राकृतिक परिघटनाओं (फेनामेना) को प्रयोगशाला में दोहरा कर इतने तथ्य जुटाए गए कि उसके आधार पर सामान्यीकरण किया जा सके और निर्देशित किया जा सके-भविष्य के बारे में बताया

जा सके। प्राकृतिक विज्ञान में ऐसा संभव हुआ और मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ा। जहां कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित न हो सके, उसे अविश्वसनीय माना गया। इसीलिए **देकार्त** ने इतिहास को अविश्वसनीय कहा था। आज भी बहुत से लोग इतिहास को किस्सा-कहानी ही समझते हैं।

फिर शुरू हुई सामाजिक विकास के नियमों की तलाश। ऐसे विचारक हुए जो समाज को समझने के नियमों और उसके परिवर्तन को नियमबद्ध करने, नियंत्रित और निर्देशित करने की कोशिश करते रहे। ज्ञान के जिन क्षेत्रों में ऐसा नहीं हो सकता था उन्हें नकारा जाने लगा। **ओगुस्त कोंत** ने 'सामाजिक भौतिकी' की तलाश कर लेने का दावा किया और 'समाजशास्त्र का जनक' कहलाने लगा पर वास्तव में सामाजिक विकास के वस्तुगत नियम ढूंढ़ने और उन्हें यथासंभव लागू करने का काम **मार्क्स** ने किया।

मार्क्स प्रकृति की द्वंद्वात्मकता से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तक पहुंचा और उसे इतिहास पर लागू कर ऐतिहासिक भौतिकवाद तक। उसने इतिहास के तथ्यों के विश्लेषण से ही जाना कि इतिहास कैसे गतिमान रहा है- मानव-समाज कैसे आदिम स्थिति से पूंजीवादी व्यवस्था तक पहुंचा है। उसी विश्लेषण से उसने सामाजिक परिवर्तन के नियम का आधार उत्पादन साधनों और उत्पादन संबंधों में परिवर्तन को सिद्ध किया और वर्ग-संघर्ष को निर्णायक, अनिवार्य, माध्यम बताया। उसने भविष्यवाणी की कि जैसे सामंतवाद को पराजित कर पूंजीवाद विकसित हुआ है वैसे ही पूंजीवाद को ध्वंस कर सर्वहारा अपना राज्य कायम करेगा। 1917 की रूसी क्रांति के बाद मार्क्स द्वारा निरूपित नियम इतिहास में कई बार सिद्ध हो चुके हैं। इसलिए इतिहास ही वह प्रयोगशाला है जिसमें मानव-कृतियों का लेखा-जोखा सुरक्षित है और उसी आधार पर सामाजिक परिवर्तन के वस्तुगत नियम समझे जा सकते हैं- उसी के आधार पर अतीत को समझा, वर्तमान को पहचाना और भविष्य को संवारा जा सकता है।

इसके अलावा इतिहास संकीर्णता का शत्रु है। इतिहास का 'सही' (वैज्ञानिक) अध्ययन करते ही देशकाल की विशिष्टता तो रेखांकित होती है पर मानव-समाज की एकता उससे भी अधिक उजागर होती है। जैसे इतिहास यह बताएगा कि भारत में असम, पंजाब या तमिलनाडु की अपनी विशिष्टता है पर यह भी कि भारतीयता भी एक ऐतिहासिक यथार्थ है। इतिहास बताता है कि वैज्ञानिक युग के प्रारंभ यानी पंद्रहवीं शताब्दी के बाद विश्वसमाज की एकता उजागर होती चली गई है। हर समाज और वर्ग अपने जैसों से एकाकार महसूस कर एकजुटता प्रदर्शित करता है। इसे साहित्य, दर्शन, कला और विचार में अभिव्यक्ति मिलती रही है।

इतिहास मनुष्य की प्रगति यात्रा के शानदार महाकाव्य जैसा है, बिना नायक और खलनायक के। धर्मग्रंथों में स्वर्ण काल के अतीत में और कयामत के दिन के भविष्य में होने पर जोर दिया गया है। उनके अनुसार समाज पतनोन्मुख है और पाप का घड़ा भर रहा हैं, एक दिन फूटेगा और प्रलय होगी। परिवर्तन तभी संभव है। ऐसी धारणा से मनुष्य निराश और आतंकित होता है। इसके विपरीत इतिहास यह बताता हैं कि मनुष्य अमीबा से आदमी बनने तक की यात्रा पूरी कर आदमी से इंसान और इंसान से बेहतर इंसान बनने के संघर्ष में रत है। आदिम जंगली अवस्था की प्रकृति की गुलामी तोड़कर मनुष्य आजाद हुआ। उसने अपने उपकरण बनाए। बुद्धि का विकास किया और प्रकृति से संघर्ष कर उस पर नियंत्रण करने लगा। दिन-ब-दिन सभ्यता और संस्कृति का विकास होने लगा। इस दौरान इसने स्वयं तरह-तरह के बंधन पैदा किए- वर्गों, वर्णों, गुटों में बांटा। आपस में लड़ता रहा, संहार करता रहा। फिर भी-इस सबके बावजूद, वह धरती के अलावा आकाश-पाताल भी भेदने लगा, ग्रह नक्षत्रों पर 'इरादों की कमान' डालने लगा। अपने बंधन तोड़ने लगा, बेहतर इंसान बनने की लड़ाई में लगा रहा। यानी इतिहास इंसान की लगातार बढ़ती जा रही जीतों का साक्षी है, उसके उज्ज्वल भविष्य का उद्घोष कर रहा है।

इतिहास नियतिवाद पर भयानक प्रहार करता है। इतिहास में ही हमें पता लगता है कि इंसान की जीत हाथ पर हाथ धरने से नहीं, महापुरुषों के इंतजार से नहीं, स्वयं समवेत रूप में महाबली बनने से संभव हुई है। इतिहास व्यक्तियों के प्रयासों और उपलब्धियां को बताता ही है, वह समाज के समवेत प्रयास को, समाजों की शक्ति को, उजागर करता है, इतिहास मनुष्य के भविष्य में ही नहीं उसकी शक्ति में भी विश्वास पैदा करता है।

इतिहास अगर मनुष्य की कृतियों का लेखा-जोखा है तो निश्चित ही मनुष्य को समग्रता में जानने का और कोई उपाय ही नहीं है। जिस समाज में हम रहते हैं, उसके वर्तमान स्वरूप को उसमें रहते हुए हम समग्रता में ग्रहण ही नहीं कर सकते, देख-समझ ही नहीं सकते। उसमें दूरी लेने का एक तरीका है कि हम वर्तमान से अतीत तक को लें। यद्यपि संयुक्तता की संभावना तभी भी रहती है क्योंकि इतिहास के क्षेत्र में मनुष्य लेखक भी होता है और अपने लेखन का विषय भी, दोनों एक साथ। पर अतीत को देखने में जो परिप्रेक्ष्य मिलता है वह कमोबेश समग्र प्रभाव छोड़ सकता है। इसलिए साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र मनुष्य के अंतरंग, निर्णायक या जरूरी पक्षों का अध्ययन कर सकते हैं पर मानव कृतियों का कुल योग इतिहास का ही विषय है।

जीव जगत का कोई अन्य प्राणी अपने अतीत को उपयोगी बनाने को कौन कहे, उसके प्रति सचेत भी नहीं होता, किन्हीं-किन्हीं में सहजानुभूति के स्तर पर कोई लगाव हो यह चेतना हो भी तो कम से कम उसका अर्थ समझने की और उसे अपने हित में इस्तेमाल करने की क्षमता नहीं होती। मानव-समाज के विकास-क्रम में अतीत, वर्तमान के लिए प्रासंगिक और अनिवार्य होता गया है। विकसित मानव ही अतीत का विश्लेषण और संकलन कर सकता है और इतिहास के माध्यम से महसूस कर सकता है कि कालधारा में बह नहीं रहा है, तैर रहा है।

इतिहास की समझ ने हमें एक ऐतिहासिक पद्धति दी है जिसके उपयोग से ज्ञान-मीमांसा समृद्ध हुई है। उस पद्धति से ही हम विज्ञान और समाज विज्ञान ही नहीं साहित्य और संस्कृति की भी पूरी अर्थवत्ता भलीभांति समझ सकते हैं। यहां तक कि हमारी दैनंदिन समझ भी इसी पर निर्भर होती है: जैसे आज चाय अच्छी है इस निर्णय पर हमारा मस्तिष्क अब तक पी गई चाय से संदर्भित करने के बाद ही पहुंचता है।

इसलिए इतिहास मनुष्य के विकास का उद्घाटक ही नहीं प्रमाण भी है, मानव-समाज को समझने का ही नहीं उसे बदलने का भी अनिवार्य उपकरण है।

2. इतिहास क्या यानी इतिहास की अंतर्वस्तु और प्रकृति क्या है?

यह जानना जरूरी है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है–यानी वह इतिहास में जन्मता है और इतिहास निर्माण करता हुआ इतिहास बन जाता है। इसलिए इतिहास कोई बाहर की चीज नहीं उसके अन्दर ही रचा-बसा होता है, मनुष्य की मनीषा के एक तत्व के रूप में। यह जानने-समझने के बाद ही हम मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने की अर्थवत्ता समझ सकते हैं।

इतिहास से अक्सर लोग किस्सा-कहानी और निर्जीव अतीत का अर्थ लेते हैं, जिसका वर्तमान से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं होता। इतिहास के सही अर्थ से अनभिज्ञ होने की कई वजहें हो सकती हैं। जब इतिहास की विषयवस्तु मनुष्येतर हो तो इतिहास का अर्थ वही नहीं होता है जो मनुष्य के संदर्भ में होता है। दूसरे, समाज के अतीत की धारा, जो उसके वर्तमान को छूती हुई भविष्य में प्रवाहित होती है, उसे भी इतिहास कहते हैं और उसके लिपिबद्ध संयोजन को भी। अमूर्त इतिहासधारा और इतिहास की पुस्तकों को एक ही नाम से पुकारे जाने के कारण भी भ्रम पैदा होता है।

वे लोग भी इतिहास के विषय में एकमत नहीं हो पाते जो मानव-इतिहास का अर्थ समझते हैं। इतिहास में आदमी के कारनामों का जिक्र होता है उन्हें आदमी ही इतिहासबद्ध करता है, इसलिए विवादों का खड़ा होना स्वाभाविक-सा है। बस एक बात निर्विवाद और सुनिश्चित होती है कि इतिहास का संबंध मनुष्य के अतीत से हैं। उस अतीत को देखने, उसके बारे में कोई अभिधारणा बनाने और उसकी व्याख्या में देशकाल और व्यक्ति के अनुसार मतैक्य न हो तो इससे विशेष आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

जब से मनुष्य चेतनशील हुआ है, वह अपने अतीत में, जहां उसके वर्तमान के स्रोत हैं, दिलचस्पी लेता रहा है। इस सहज रुचि के साथ उसके वर्तमान के स्वार्थ, उसकी मनोवृत्ति, उसके विचार और उसकी वर्ग-चेतना की भूमिका जुड़ी होती है। इसलिए अतीत को वह अपने ढंग से देखता रहा है और इतिहास विवादों को जन्म देता रहा है, उनका शिकार होता रहा हैं।

समाज विज्ञान के क्षेत्र में एक सार्वभौम और सर्वव्यापी परिभाषा कर पाना, जो संक्षिप्त और सर्वथा उचित भी हो, प्राकृतिक विज्ञान की अपेक्षा बहुत कठिन कार्य है। जहां तक इतिहास का संबंध है, उसकी परिभाषाओं में बहुत विविधता है। अमरीका के सबसे पहले और सबसे प्रसिद्ध धनकुबेर **हेनरी फोर्ड** ने इतिहास को बकवास कहा था- 'हिस्ट्री इज बंक' (उनका ऐसा कहना स्वाभाविक था क्योंकि उस समय न तो उनका कोई इतिहास था और न उनके जैसों के देश का)। दूसरी ओर नेपोलियन इतिहास को विवेक कहता था। हालांकि स्वयं उसमें विवेक का अभाव था और वह हीगेल के इन शब्दों की सच्चाई साबित कर गया कि 'इतिहास की एकमात्र सीख यही है कि हम इतिहास से कोई सीख नहीं लेते।' फ्रांसीसी लेखक **अनातोल फ्रांस** ने इतिहास की एक दिलचस्प तस्वीर खींची है। उसके अनुसार इतिहास एक अत्यंत प्रभावशाली महिला की तरह है जो स्वभाव से दम्भी, भुलक्कड़, अज्ञानी, पक्षपाती और झूठी है। साहित्यकार की अंतर्दृष्टि ने इस प्रकार इतिहास के उन दोषों की ओर इशारा किया है जिन्हें जनमानस प्रायः इतिहास में देखता है।

इतिहासकारों और विचारकों की बात लें तो फ्रेंच इतिहासकार **मारू** का मत है कि 'इतिहास मानव के अतीत का ज्ञान है।' और स्पष्ट शब्दों में **डब्ल्यू. एच. गालब्रेथ** इतिहास को 'अतीत का वह अंश मानते हैं जिसे हम जान पाए हैं या जान पाते हैं।' इस प्रकार निर्विवाद रूप से इतिहास अतीत में मानव-समाज का प्राप्त और प्राप्य ज्ञान माना जाता रहा है।

समाज के संदर्भ में इतिहास की वही भूमिका है जो मनुष्य के संदर्भ में उसकी स्मृति की। इस तरह इतिहास समष्टि की। अपने अतीत की स्मृति है, पर जब कोई व्यक्ति वैज्ञानिक अध्ययन के सहारे इस स्मृति का संयोजन करता है, उसे लिपिबद्ध करता है या यूं कहें कि अतीत की पुनर्रचना करता है, तभी इतिहास का जन्म होता है। इतिहास की रचना एक व्यक्ति करता है जो किसी आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश में रहता है। जीवन और परिवेश की उसकी अपनी समझदारी होती है, उसकी अपनी एक अस्मिता होती है। ये बातें उसके इतिहासलेखन पर निश्चित प्रभाव डालती हैं। इस प्रकार व्यक्ति और इतिहास के संबंध दोहरे हो जाते हैं। विख्यात फ्रांसीसी विचारक **रेमो आरों** के शब्दों में, 'आदमी एक ही साथ इतिहास का कर्ता और पात्र दोनों होता है' (लाम्म एताला फुआ ल स्यूजे ए लोब्जे द लिस्तुआर)। स्पष्ट शब्दों में, अतीत की मानवकृतियों का जब एक मानव (इतिहासकार) विवेचना करता है तो उसका पूरी तरह वस्तुनिष्ठ हो पाना संभव नहीं क्योंकि वह जिन इतिहास स्रोतों को अपना आधार बनाता है उनका वह स्वयं प्रत्यक्ष साक्षी नहीं होता,

न ही वह उन्हें किसी प्रयोगशाला में दुहरा सकता है। ऐसी स्थिति में वह अपने इतिहास-लेखन में पूरी तरह तटस्थ और पूर्वाग्रह-विहीन कैसे रह सकता है? व्यक्तिगत और परिवेशगत दबावों के कारण उसके लेखन के आत्मपरक होने की संभावना बनी रहती है।

इतिहासलेखन एक दुष्कर कार्य है। इतिहासकार कितना ही बड़ा शोधकर्ता क्यों न हो उसे पूरे तथ्य और साक्ष्य नहीं मिल पाते। फिर जितने भी मिलेंगे उनमें से उसे चुनाव करना पड़ता है। पूरी प्रक्रिया के दौरान अक्सर उसकी पूर्वनिश्चित धारणाएं काम करती रहती हैं और प्रायः इतिहासकार उनके प्रति सचेत तक नहीं होता। ऐसा भी होता है कि इतिहासकार अपने दम्भ का शिकार हो जाता है या फिर अपने कार्य की प्रतिष्ठा के लिए अपने इतिहास को सत्य का पर्याय कह बैठता है। इतिहासकार **बरी** ने कहा था कि शायद ही कोई ऐसा इतिहासकार हो जो न कहता हो कि उसका एक मात्र लक्ष्य अतीत का निष्पक्ष और सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करना है। ऐसा कहना और सोचना दुराग्रह है जो स्वयं इतिहासकार को नहीं, इतिहास की सीमाओं को भी नजरंदाज करता है।

वास्तविकता यह है कि इतिहास का सत्य सीमित होता है और वह भी तभी विश्वसनीय होता है जब-

(1) प्रासंगिक तथ्यों के बारे में स्रोतों का यथासंभव शोध हो और विभिन्न स्रोतों से पुष्ट तथ्य को स्वीकार किया जाय।

(2) इतिहासकार स्वयं अपने विचारों तथा पूर्वाग्रहों के प्रति सचेत हो।

(3) तथ्यों के विश्लेषण के लिए उसके पास कोई सैद्धांतिक और वैज्ञानिक उपकरण हो।

(4) तथ्यों के संकलन-विश्लेषण में वह जहां तक हो सके जागरूक तटस्थता का निर्वाह करे।

इतिहासलेखन की सीमाओं और संभावनाओं को समझने के लिए यह जरूरी होगा कि हम इतिहासदर्शन और अब तक इतिहासलेखन पर हुए चिंतन पर एक विहंगम दृष्टि डाल लें। दूसरे शब्दों में, इतिहास का संक्षिप्त इतिहास जान लेना उपयोगी और आवश्यक है।

अति प्राचीन काल में भी जब इतिहासलेखन शुरू भी नहीं हुआ था, मनुष्य मिथक और गाथाओं के माध्यम से अपने अतीत की कथा-स्मृति को यथासंभव सुरक्षित रखता था। लेकिन उस समय यथार्थ और कल्पना इस तरह घुलमिल जाते थे

कि एक-दूसरे को अलग कर पाना संभव नहीं था। यद्यपि **कालिंगवुड** का विचार है कि मध्यपूर्व की प्राचीन सभ्यताओं में एक प्रकार के धार्मिक इतिहास के बीज मिलते हैं पर भारतीय और चीनी परम्परा तो मध्यपूर्व से प्राचीनतर है और वहां भी इतिहास बीज रूप में मौजूद है पर समान्यतः इतिहास लेखन की शुरुआत यूनान के **हेरोदोतस** (पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व) से मानी जाती है। **हेरोदोतस** और **थूसीदीदस** (पांचवी शताब्दी ईसा पूर्व) भी गाथाओं और मिथकों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सके थे पर उन्होंने अपने इतिहास में मनुष्य के कार्यों को देश-काल में स्थित करना शुरू किया और इतिहासलेखन का प्रारंभिक दौर शुरू हुआ।

हेरोदोतस ने मनुष्य के कार्यों को वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखा। अपनी कुशाग्र जिज्ञासा और ईमानदार निर्णय के सहारे उसने इतिहास लिखा। लेकिन उसके पास कोई वैज्ञानिक शोधपद्धति नहीं थी। वह प्रायः अपनी सूचनाओं पर यथावत विश्वास कर लेता था। उसे उन लोगों की भाषाएं भी नहीं आती थीं जिनके विषय में वह लिख रहा था। और फिर उस काल की स्वाभाविक मासूमियत का वह भी शिकार था। इसलिए कुछ लोग तो उसे इतिहासकार मानने पर भी एतराज करते हैं। पर यह निर्विवाद है कि वह मनुष्य को देश-काल में स्थित कर देखने लगा था। देश-काल का यही संदर्भ इतिहास की पूर्व शर्त है।

थूसीदीदस का लेखन ज्यादा व्यवस्थित और सूक्ष्म था। वह यथासंभव कल्पना के सहारे लिखने से बचता था। उसकी दृष्टि पैनी थी और वह तथ्यों की जांच करता था। पर वह अंतर्ग्रस्त होकर लिखता था कि 'ऐसे ही लोगों को इतिहास लिखना चाहिए जिनका घटनाओं से सीधा जुड़ाव रहा हो।' इस तरह उसके लेखन की भी एक सीमा थी। खासतौर पर उसके अनुसार सुदूर अतीत का इतिहास लिखने की तो संभावना ही नहीं थी।

इन दोनों पहलकर्ताओं को पूर्णतया इतिहासकार न भी माना जाए तो इन्हें अपने युग का जीवनीकार तो मान ही सकते हैं। वैसे उस युग में वस्तुगत इतिहास की अपेक्षा करना एक दुराग्रह ही होगा। आज भी जब इतिहास वैज्ञानिक विधि से लिखा जाने लगा है वह गाथाओं और किंवदंतियों से पूर्णतः मुक्त कहां हो पाया है?

प्राचीन इतिहासकारों में इटली के पोलीबियस (दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व) ने इतिहास को सबसे सही परिप्रेक्ष्य में समझा। उसने कहा कि यदि इतिहास के कारणों की व्याख्या, विचार और मंतव्य जैसी चीजें इतिहास से निकाल दें तो तमाशा मात्र ही बचेगा जो गूल्यहीन होगा। उसने घटनाओं को उनके पहले और बाद के संदर्भों से जोड़ने पर जोर दिया। उसने इतिहास के तीन पहलू बताए, लिखित अभिलेख,

टोपोग्राफी और राजनीतिक बातें। उसने इतिहासकार के दो काम बताए, सही तथ्य का पता लगाना और किसी नीति या व्यवस्था की सफलता-असफलता के कारण ढूंढ़ना। ऐसा न होने पर इतिहास शिक्षाप्रद नहीं होगा। यह सब होते हुए भी वह राजनीति की प्रधानता से उबर नहीं सका और एक प्रकार के नैतिक पूर्वाग्रह का शिकार हो गया।

ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में जब यूनान का पतन हो रहा था, इतिहास की महत्ता समाप्त-सी हो रही थी। ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार में समाज को धर्म प्रधान बनाना शुरू कर दिया गया था और समय की धारा के अनुकूल ही **संत आगस्टाइन** ने 'इतिहास में ईश्वर को स्थापित कर दिया।' एक नियतिवादी समाज में मनुष्य के कार्यकलापों का क्या महत्व हो सकता है? भिक्षुओं ने, जिन्हें जीवन और समाज की सीमित जानकारी थी, इतिहास लेखन को भी एक धार्मिक कार्य समझा। जाहिर है उनका इतिहास समाज के विकासक्रम पर या उसे बदलने पर रोशनी डालने को कौन कहे, व्यक्ति की सही पहचान कराने में भी असमर्थ था। यूरोप में शताब्दियों तक ऐसा ही इतिहास लिखा जाता रहा जो कैथोलिक चर्च की सत्ता की प्रतिष्ठा और स्थायित्व बनाए रखने में सहायक हो।

चौहदवीं शताब्दी में, यूरोप में नहीं, अफ्रीका में, एक विलक्षण इतिहासकार पैदा हुआ- **इब्न खल्दून** (1332-1406)। उसने केवल इतिहास नहीं, इतिहासलेखन की विधि और सामाजिक संस्थाओं का महत्व समझा। उसने अपने पहले के अरब इतिहास को साहित्य से अलग रखते हुए साधारण के माध्यम से विशिष्ट की व्याख्या करने का तरीका अपनाया। अपनी विख्यात 'मुकद्दिमा' की प्रस्तावना में उसने लिखा कि वह इसलिए लिख रहा है, ताकि शासक जान सकें कि पहले क्या हुआ और बाद में क्या होगा। यह इतिहास को काल प्रवाह और विकास की दिशा के संदर्भ में समझने का प्रयास था और आज भी प्रासंगिक है। इस प्रकार वैज्ञानिक पद्धति इस्तेमाल करके इतिहासकार सिद्धांतों, मतों और पूर्वाग्रहों से बच सकता है। इस तरह के वैज्ञानिक इतिहास की बात करने वाला इब्न खल्दून पहला व्यक्ति था। यह दूसरी बात है कि वह स्वयं पूरी तरह वैसा इतिहास नहीं लिख सका। इब्न खल्दून के मूल्यांकन का आधार यह नहीं हो सकता कि वह इतिहास को वह स्वरूप नहीं दे सका जिसकी वह बात करता था। उसे तो इस दृष्टि से देखना चाहिए कि अपनी आलोचनात्मक पद्धति और दार्शनिक झुकाव के कारण उसने इतिहास को वह गरिमा प्रदान की, जो यूरोप में सदियों बाद जाकर ही किया जा सका। अंत में, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह यूरोप के पुनर्जागरण के पहले लिख रहा था, और वह भी अफ्रीका में।

यूरोप में पंद्रहवीं शताब्दी में जब पुनर्जागरण शुरू हुआ तो जीवन-दृष्टि ही बदलने लगी। चमत्कारों का प्रभाव कम होने लगा। बिना धर्म विरोधी बने लोग धर्म के प्रति तटस्थ होने लगे। इतिहास पर भी धर्म का प्रभाव दो तरह से कम होना शुरू हुआ। एक तो गैर भिक्षु लोग भी इतिहासलेखन की ओर आकर्षित हुए। दूसरे इतिहास का विषय अब 'सेक्यूलर' होने लगा।

इस समय के लेखकों में **मैकियावेली** (1469-1527) का नाम प्रमुख है। राजनीति की तरह इतिहास के विषय में भी उसके अपने दृढ़ विचार थे। उसने इतिहास को अपने विचारों के लिए उपकरण की तरह इस्तेमाल किया। **फुएटर** का तो कहना है कि अपने विचारों की पुष्टि के लिए जब उसे तथ्य नहीं मिलते थे तो वह उन्हें गढ़ लेता था। ऐसे में इतिहास कितना निष्पक्ष होगा, यह सोचने की बात है पर यह तो निर्विवाद है कि उसने इतिहास को लौकिक आधार प्रदान किया।

प्रबोधनकाल (एज ऑफ एनलाइटेनमेंट) में इतिहास का स्वरूप निश्चित दिशाओं में निर्धारित होने लगा। इतिहास का क्षेत्र धार्मिक दांव-पेंच और राजनीति के पचड़ों को पार कर विस्तृत होने लगा। समाज और सभ्यता इतिहास के विषय होने लगे। अंधविश्वासों का प्रभाव समाप्त होने लगा। विचारों को अधिक महत्व मिलने लगा, जिसके कारण बाद में बौद्धिक इतिहास की शुरुआत हो पाई। मानवमात्र की समानता की बात की जाने लगी। उनकी विविधता का आधार **मोन्तेस्किउ** (1689-1775) ने भूगोल को और वोल्तेयर (1694-1778) ने जलवायु, धर्म और संस्कारों को माना। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि इतिहास में प्रगति का सिद्धांत प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार स्वर्णकाल की खोज इतिहास में करने के बजाय उसकी कल्पना भविष्य में की जाने लगी। फ्रांस के विद्वान लेखकों **मान्तेस्किउ, वोल्तयर** और **कोंदोर्से** (1743-1794) के प्रभाव में इतिहास तर्क संगत होने लगा।

इस प्रकार इतिहास के परिप्रेक्ष्य का विस्तार हुआ। उसे सैद्धांतिक आधार मिला। लेकिन ऐसा लगता था कि इस काल के लेखक 'इतिहास से पूछने के पहले ही जानते थे कि व्यक्ति कैसा है।' ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक तथ्यों को वह सम्मान नहीं मिल पाया था जो उन्हें मिलना चाहिए था। वस्तुनिष्ठ इतिहास की खोज अभी जारी रही।

अब हम पिछली तीन शताब्दियों में हुए इतिहास-चिंतन पर एक दृष्टि डालें तो हमें दो सुस्पष्ट धाराएं नजर आएंगी। एक धारा इतिहास में कार्य-कारण-संबंधों पर वैसे ही नियम लागू करना चाहती है जैसा कि प्राकृतिक विज्ञान में होता है ताकि सामान्यीकरण के आधार पर कुछ नियम बनाए जा सकें। इस प्रकार इतिहास को विज्ञान बनाने की चेष्टा की जाती रही है। दूसरी ओर, इतिहास की प्रासंगिकता पर बल

दिया गया है और किसी भी सामान्यीकरण को नकारा जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रयत्न हुए हैं कि इतिहास में दोनों ही विचारों का समन्वय हो सकता है। इस प्रकार बीच के रास्ते की वकालत होती रही है।

वैज्ञानिक इतिहास की तलाश : फ्रांसीसी विचारक देकार्त (1596-1650) स्वयं कोई इतिहासकार नहीं था, फिर भी हमें बात उसी से शुरू करनी पड़ेगी। उसकी दृष्टि में हर वह चीज निकृष्ट थी जो तर्क की कसौटी पर न कसी जा सके। इसलिए वह कहता था कि सच्चा-से-सच्चा इतिहास भी रूमानियत से मुक्त नहीं हो सकता। उसने इतिहास को मानव विज्ञान के क्षेत्र में कोई महत्व देने से इंकार कर दिया। लेकिन उसने जो तर्क-पद्धति प्रतिपादित की उसका उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में होने लगा और अठारहवीं शताब्दी आते-आते इतिहास के क्षेत्र में भी एक मोड़ आया।

ज्यादातर विद्वान वॉल्तेयर द्वारा लिखित 'लूई चतुर्दश का काल' को 'पहला आधुनिक इतिहास' मानते हैं। वोल्तेयर ने इतिहास संबंधी अपने विचारों को दिदेरो की 'इंसाइक्लोपीडिया' में लिखा था। उसका मत था कि जैसे और क्षेत्रों में नियम हैं वैसी ही वैज्ञानिक इतिहासलेखन के भी नियम हो सकते हैं। पर उसे चर्च और पादरियों से घृणा थी और वह इतिहास में 'हीरो' की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करता था। उसकी धारणा नैतिकवादी थी। निश्चित था कि ऐसे में वह इतिहासलेखन में तटस्थ नहीं रह सकता था।

बाद में कोन्दोर्से और उसके प्रभाव में **सैं सीमो** (1760-1825) ने इतिहास से वे आंकड़े प्राप्त करने चाहे जिनके आधार पर भविष्य का निर्धारण हो सके। इसी क्रम में ओगुस्त कोंत ने समाज के नियम ढूंढ़ने चाहे जिनके सहारे सारी इतिहासधारा को पहले से ही जाना जा सके। वह एक प्रकार की 'सामाजिक भौतिकी' की प्रतिष्ठापना करना चाहता था। इन बातों का यूरोप भर में काफी प्रभाव पड़ा। तैन (1828-1893) ने तो यहां तक कहा कि 'जन्तु विज्ञान की तरह इतिहास को भी एक तरह की 'एनॉटमी' मिल गई है', यानी इतिहास वैज्ञानिक हो गया है।

कुल मिलाकर इस धारा में दो बातों पर जोर दिया गया-वैज्ञानिक शोध और सामान्यीकरण के माध्यम से नियमों का आविष्कार। इनमें से पहले लक्ष्य ने इतिहास का बहुत भला किया पर वैसे नियम नहीं बनाए जा सके और इतिहास उतना अनुभवजन्य नहीं हो सका जितना होने पर वह वैज्ञानिकता मिल पाती जो उसे तैन और ओगुस्तकोंत देना चाहते थे।

जर्मनी में इस प्रवृत्ति को **नीबर** (1776-1831) नामक अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति में अभिव्यक्ति मिली। उसने बर्लिन विश्वविद्यालय में पहले अपने व्याख्यानों

और रचनाओं के माध्यम से इतिहास को एक भाषाशास्त्री की दृष्टि से देखा। उसकी पुस्तक 'रोम का इतिहास' ने इतिहासलेखन का एक नया आयाम प्रस्तुत किया। लेकिन उसकी एक बहुत बड़ी कमजोरी थी। उसका ख्याल था कि जिसने घटनाओं को पास से देखा है, संपृक्त होकर उनके साथ रोया या हंसा है वही अच्छा इतिहास लिख सकता है। राजनेता उसके विचार से अच्छे इतिहासकार हो सकते थे। इस प्रकार डूबकर लिखने की प्रवृत्ति इतिहास को किस कदर रंग सकती है उसे वह नजरअंदाज करता था (यहां चर्चिल के उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाती है। यह सर्वज्ञात है कि सारी जीवन्तता और ढेर सारे तथ्यों के बावजूद चर्चिल द्वारा लिखित इतिहास एकांगी है और विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों, विशेषकर इंग्लैंड और उसकी अपनी भूमिका को रेखांकित करता है)।

नीबर के शिष्य **रान्के** (1795-1886) ने इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण काम किया। इतिहास में रान्के की रुचि का प्रारंभ 'संदर्भ और महत्व' की तलाश से शुरू हुआ। तथ्यों की निकटता, सच्चाई और आधिकारिता को वह सर्वाधिक महत्व देता था। उसने यूरोप के अभिलेखागार छान मारे। बहुत से पुस्तकालयों एवं कार्यालयों से उसने दुर्लभ और अज्ञात ऐतिहासिक सामग्री जुटाई। कुछ में प्रवेश के लिए पहली बार उसे ही आज्ञा मिली। इन सबके आधार पर जो इतिहास उसने प्रस्तुत किया उसने अब तक के बहुतेरे विद्वानों का सम्मान भूलुंठित कर दिया।

उसने सामान्य में विशिष्ट की तलाश को अपनी पद्धति बनाया। अपनी पुस्तक 'लैटिन और जर्मनिक राष्ट्रों का इतिहास' में उसने स्पष्ट लिखा कि इतिहास में अतीत के विषय में स्पष्ट निर्णय और वर्तमान के लिए शिक्षा की अपेक्षा की जाती है ताकि भविष्य का समाना जागरूकता के साथ किया जा सके। वह जानता था यह पूरी तरह कर पाना असंभव है पर उसका लक्ष्य था कि वह अतीत को 'ज्यों का त्यों' (जैसा वह वास्तव में था, वी एस आइगेन्टलिश गेवेसन') प्रस्तुत करे। इसके लिए उसने कुछ सुझाव रखेः

(1) तथ्यों को कठोर अनुशासन के साथ प्रस्तुत किया जाए भले ही वे शुष्क लगें।
(2) घटनाओं की अंतर्निहित एकता और विकासक्रम का विश्लेषण विस्तार से किया जाए। इसके लिए संस्थाओं और राष्ट्रों को एक-एक करके लेना आवश्यक है।
(3) जो भी विशेष हो उसे रेखांकित करना चाहिए क्योंकि इतिहास की पद्धति ही यही है कि विशेष की तलाश की जाए।
(4) यह तरीका कारगर हो, इसके लिए आलोचात्मक पद्धति, तटस्थ शोध और संश्लिष्ट रचना होनी चाहिए।

उसने स्वयं स्वीकारा है कि ऐसा पूरी तरह कर पाना बहुत कठिन है। वह स्वयं लूथरवादी था और प्रशा का निवासी होने के नाते राष्ट्रीयता से ओतप्रोत था। वह रूस के ज़ार पीटर और प्रशा के शासक फ्रेडरिक जैसी विभूतियों का प्रशंसक था। इसलिए उनके विषय में लिखते समय वह एक तरह का लगाव महसूस करता था। उसने एक बार लिखा था, 'काश मैं अपने को मिटा पाता।' यह उसी की नहीं किसी भी इतिहासकार की पीड़ा हो सकती है कि वह अपने व्यक्तित्व को इतिहासलेखन के समय भुला दे, उसे अलग रखे, लेकिन ऐसा पूरी तरह कर पाना केवल असंभव ही नहीं, अस्वाभाविक भी लगता है। **ऐक्टन** का मत है कि रान्के ने ऐसा करने में सफलता पाई, उसने अपने व्यक्तित्व के कवि, देशभक्त और राजनीतिक पक्षधर को सफलतापूर्वक नियंत्रित किया। उसने जब अपने देश के दुश्मन फ्रांस के विषय में भी लिखा तो उसका राष्ट्रप्रेम आड़े न आया और उसका यूरोपीय परिप्रेक्ष्य धूमिल नहीं हुआ। स्वयं अपने देश के विषय में लिखते समय वह भावनाओं के प्रवाह से बचा रह गया। इयेना के युद्ध की याद, जिसमें नेपोलियन द्वारा प्रशा की पराजय हर प्रशा निवासी के अंतर्मन को सालती रहती थी, उसे उद्वेलित न कर सकी। इस प्रकार हर व्यक्ति और घटनाओं में मानो वह समाकर लिखता था। उसकी सफलता का सबूत उसकी आलोचना से भी मिला था। **सीबेल, ड्रायसन** और **ट्राइट्श्के** जैसे अंधराष्ट्रभक्तों ने उसकी तटस्थता की खिल्ली उड़ाई है। राष्ट्रवादियों ने उसकी व्यापक दृष्टि, नैतिकवादियों ने उसकी नैतिक तटस्थता और भौतिकवादियों ने उसकी अस्पष्ट आध्यात्मिकता की आलोचना की है।

इस तरह अतीत के यथावत चित्रण जैसा असंभव कार्य वह नहीं कर सका और न ही हमेशा पूरी तरह अपने पूर्वाग्रहों पर नियंत्रण रख सका, पर जैसा उसने लिखा वैसा उसके पहले नहीं लिखा गया था। उसने शुष्क किन्तु आधिकारिक इतिहासलेखन की परंपरा को जन्म दिया। उसके अनुयायी और शिष्य दो पीढ़ियों तक यूरोप और अमरीका के विश्वविद्यालयों में छाए रहे। उसका प्रभाव मार्क्सवादी इतिहासलेखन के विस्तार के बाद ही कम हुआ।

इंग्लैंड में कोंत का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। **जान स्टुअर्ट मिल** हमेशा कहता था कि जो प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में संभव है, वह हर कहीं संभव है।

स्वयं प्रशिक्षित इतिहासकार **हेनरी टामस बकल** (1821-1862) ने भौतिक बातों का मानव सभ्यता पर प्रभाव स्पष्ट किया। उसने मानव-विकास के नियम ढूंढ़ने की कोशिश की। अपनी पुस्तक 'इंग्लैंड में सभ्यता का विकास' की प्रस्तावना में उसने इस बात पर जोर दिया कि बिना विज्ञान के इतिहास का कोई वजूद ही नहीं है।

उसने कहा कि ज्ञान के हर क्षेत्र में सामान्यीकरण की विधि अपनाई जाती है। इतिहास में भी यदि वही नहीं तो वैसा ही करने की चेष्टा उसने की। उसने यहां तक कहा कि इतिहास में अब तक ऐसा इसलिए नहीं हो सका है क्योंकि न्यूटन या केपलर जैसी प्रतिभा वाला कोई इतिहासकार नहीं हुआ। लेकिन उसने साबित किया कि उसमें भी वैसी प्रतिभा नहीं थी क्योंकि वह भी कोई नियम नहीं बना सका।

बकल ने अपने सीमित दायरे में ऐसा करना चाहा था। **जे.बी.बरी** ने तो कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के विख्यात 'रेजियस प्रोफेसर' के पद से घोषित किया कि 'इतिहास एक विज्ञान है, न उससे कम न ज्यादा' (हिस्ट्री इज सायंस, नथिंग्लेस नथिंग मोर)। उसने 'व्यापक और संपूर्ण' की बात की और इतिहासकारों की ट्रेनिंग पर जोर दिया। उसे विश्वास था कि यदि प्रयास किया जाये तो इतिहास की भूलें समाप्त की जा सकती हैं और जनमत के दिशा-निर्देश के द्वारा बौद्धिक और राजनीतिक स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। उसने शायद यह नहीं सोचा कि इतिहासलेखन में स्वतः प्रश्रय पाने वाले पूर्वाग्रह के कारण इतिहास विज्ञान नहीं हो सकेगा। पूर्वाग्रह तभी पलने लगता है जब राजनीतिक स्वतंत्रता जैसे अस्पष्ट लक्ष्य; और वह भी बिना यह निर्धारित किए कि किसकी स्वतंत्रता को लक्ष्य बनाया गया है, को सामने रखकर इतिहास लिखा जाता है।

यहीं पर हमें उस चिंतनधारा पर भी विचार कर लेना चाहिए जो इतिहास में एक निश्चित धारा प्रवाहित देखती है जिसके अनुसार इतिहास फार्मूलों पर आधारित है। हीगेल (1770-1831) के अनुसार इतिहास का विकास उतना ही तर्कसंगत है जितना कि शतरंज का खेल। यह जरूर था कि उसने ईश्वर को शतरंज के खिलाड़ी और महान पुरुषों को वजीर तथा दूसरों को अन्य मोहरों के रूप में देखा।

स्पेंगलेर (1880-1936) ने एक तटस्थ दार्शनिक भाव से अपना निराशावादी दृष्टिकोण 'डिक्लाइन आफ द वेस्ट' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया और पतन के कारण ढूंढ़ते हुए पश्चिमी सभ्यता के पतन को अवश्यंभावी बताया। बाद में **टॅायनबी** ने उसी कार्य को उद्भट विद्वता और अपेक्षतया अधिक आशावादी दृष्टिकोण अपनाकर बहुत वृहद स्तर पर किया। उसकी पुस्तक 'स्टडी आफ हिस्ट्री' इस क्षेत्र में लिखी गई अब तक की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक थी। इसमें उसने कुछ मौलिक प्रश्न उठाए: मानव-जीवन के कौन से क्षेत्र निश्चित नियमों पर आधारित हैं और किन पर मनुष्य का अपना नियंत्रण है? क्या दूसरे क्षेत्र का विस्तार हो सकता है? यदि हां, तो कितना? इस संदर्भ में उसने पर्याप्त आंकड़ों का अभाव महसूस किया, फिर भी उसने इतिहास में नियमों की बात पर जोर दिया।

हीगेल, स्पेंगलर और ट्वायनबी ने जो किया उसे **इसाइया बर्लिन** 'हिस्टोरिजोफी' की संज्ञा देते हुए कहता है कि इन्होंने जो भी किया वह इतिहास में 'विशेष' के महत्व को नकार देता है। **इन्हें** 'स्पेकुलेटिव पाजिटिविस्ट' की संज्ञा देकर जे.एच.रैण्डल व्यंग्य करता है कि इन्होंने इतिहास में पैटर्न ढूंढ़ना चाहा और सोचा कि वे वैज्ञानिक पद्धति अपना रहे हैं जबकि उनका कार्य आस्था से प्रेरित था न कि विज्ञान से।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन्होंने इतिहासदर्शन के क्षेत्र में चाहे जितनी हलचल मचाई हो इतिहासलेखन को बहुत कम प्रभावित किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में रान्के और उसके शिष्यों का इतना प्रभाव था कि सारे पश्चिमी जगत के विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक इतिहास की बातें होती रहीं पर लोकप्रिय हुई इंग्लैंड में **कार्लाइल**, जर्मनी में **ट्राइट्श्के**, फ्रांस में **मिशले** और अमरीका में **बैंक्राफ्ट की पुस्तकें जो अत्यन्त पक्षपातपूर्ण ढंग से लिखी गई थीं। उन्हें विद्वान** इतिहासकार **नीची नजर से देखते थे, पर जब** सीले जैसे जिम्मेदार इतिहासकार ने भी मैकाले और कार्लाइल को लुच्चा कह दिया तो जी.एम.ट्रेवेल्यान ने इन विज्ञान के पुजारियों को जवाब देने का इरादा किया।

जी.एम.ट्रवेल्यान ने बरी के जवाब में अपना प्रसिद्ध लेख लिखा-'क्लियो-ए-म्यूज'। इतिहास को साहित्य से जोड़ते हुए उसने उन दिनों की याद की जब कालाईल और मैकाले की पुस्तकें पाठकों को आह्लादित करती थीं। उसने प्रश्न किया कि इतिहास तथ्यों का ढेर मात्र है या भावनात्मक और बौद्धिक मूल्यों के संदर्भ में तथ्यों की व्याख्या है? उसने साफ-साफ कहा कि इतिहास कभी विज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि जैसे प्याज अपने छिलके से अलग नहीं किया जा सकता, उसकी प्रकार ऐतिहासिक घटनाएं अपनी परिस्थितियों से अलग नहीं की जा सकतीं और इसलिए इतिहास में न कोई सामान्यीकरण संभव है, न कोई नियम। इतिहास जब तक एक नई मानसिकता न पैदा कर सके तब तक उसका कोई मूल्य नहीं होता, इसलिए इतिहास का महत्व उसकी शैक्षिक महत्ता में है। उसके अनुसार इतिहासकार को तथ्य संग्रह करते समय वैज्ञानिक, उसका वर्गीकरण करते समय वैचारिक और प्रस्तुत करते समय साहित्यिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

अमरीका के विश्वविद्यालयों में रान्के के शिष्यों का बोलबाला था पर **रॉबिन्सन और बीयर्ड** ने 'द डेवलपमेंट आफ मार्डन यूरोप' में लिखा कि इतिहासलेखन की सबसे बड़ी सीमा रही है, अतीत को वर्तमान से अलग करके देखना। उन्होंने इतिहास की प्रासंगिकता पर जोर दिया। रॉबिन्सन 'द न्यू हिस्ट्री' में इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि

अब तक वर्तमान अतीत का शिकार होता रहा है, अब समय आ गया है कि इसे उलटकर अतीत का वर्तमान के लिए उपयोग हो।

बीयर्ड ने इस बात को 'अमरीकन हिस्टारिकल एसोसिएशन' के सामने और स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया। उसका भाषण, जिसे एक व्यंग्यात्मक नाम : 'द नोबल ड्रीम' दिया गया, वैज्ञानिक इतिहास की बात करने वालों पर करारी चोट थी। उसके अनुसार, सत्य तक पहुंचने के लिए विज्ञान एकमात्र साधन नहीं है। उसने कहा कि वस्तुगत इतिहास के पक्षपातियों के तर्क हैं:

(1) इतिहास का अपना अलग अस्तित्व है–इतिहासकार की बुद्धि के बाहर, इसलिए वह ग्राह्य है- उसका वर्णन किया जा सकता है।

(2) इतिहासकार के लिए इतिहास के स्वरूप को पकड़ पाना संभव नहीं है, इसलिए वह बिना किसी पूर्वाग्रह के उसे अपने लेखन में परिलक्षित कर सकता है।

(3) किसी भी लोकोत्तर तत्व जैसे ईश्वर या आत्मा के प्रभाव से बचा जा सकता है यदि विवेक से काम लिया जाए।

बीयर्ड ने जोर देकर कहा कि इन तर्कों की कसौटी पर रान्के भी खरा नहीं उतरता। उसने ब्यौरेवार तर्क इस तरह उपस्थित किए।

(1) इतिहासकार रसायनशास्त्री की तरह अपने तथ्यों को अपने सामने नहीं देख सकता। उसके तथ्य दस्तावेजों में होते हैं जो कितने भी पूर्ण हों, सभी घटनाओं और सभी व्यक्तियों के पूर्ण दस्तावेज नहीं हो सकते।

(2) इन सीमित दस्तावेजों मे से कुछ ही तथ्य इतिहासकार चुनता है।

(3) ऐसी स्थिति में जिस इतिहास की रचना होती हे, उसका स्वरूप पूर्वाग्रह-पूर्ण न हो, यह कैसे हो सकता है? कोई न कोई नैतिक या सौन्दर्यपरक विचार तथ्यों को अपने रंग में रंगेगा ही। किसी न किसी तरह की ट्रांसेडेंस (लोकोत्तरता) तो रहेगी ही, ईश्वर की न सही, वह तर्क, पदार्थ या प्रकृति संबंधी होगी।

(4) इतिहासकार कितना भी नियंत्रण और त्याग का परिचय दे, वह अतीत को यथावत् चित्रित नहीं कर सकता।

(5) इस प्रकार इतिहासकार इतिहास की वस्तुगत सच्चाई तक पहुंचने का लक्ष्य भले ही बना ले, वहां तक पहुंच नहीं सकता।

इतिहास की प्रासंगिकता के पक्षधर लोगों की सीमा क्रोचे की उस उक्ति में मिलती है जहां वह साफ-साफ कहता है कि 'पूरा इतिहास सांप्रतिक इतिहास' है। इनके तर्कों में जो तीव्रता है वह इसलिए कि विज्ञान के बढ़ते प्रभाव के कारण वैज्ञानिकता की एक हवा चल गई थी जिसके कारण ज्ञान के हर क्षेत्र में प्रयास होने

लगे थे कि उसे विज्ञान का स्वरूप दिया जाए। पर हर विद्या की अपनी प्रकृति होती है, एक सीमा होती है। इस प्रयास में जब उस सीमा का अतिक्रमण होने लगा तो प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। इस प्रतिक्रिया का यह परिणाम निकला कि वर्तमान का महत्व बताते हुए इतिहास को प्रासंगिक बनाने के प्रयत्न में, इतिहास के तथ्यों का जो अपना महत्व होता है, उसकी जो अपनी अस्मिता होती है, उसे भंग किया जाने लगा।

फासिस्ट राज्यतंत्रों ने इतिहास को राजनीतिक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और इतिहासकार को 'इतिहास के मोर्चे का सिपाही' घोषित कर दिया गया। रान्के की कर्मभूमि जर्मनी में हिटलर के जमाने में वस्तुगत इहिहास की परंपरा के मुख्यपत्र **हिस्टोरिशत्साइट्श्रिफ्ट** का स्वरूप ही बदल दिया गया और नात्सीवाद के प्रभाव में **वाल्टर फ्रांक** ने इतिहासकारों का आह्वान किया कि वे देश के अधिकारियों की तरह कार्य करें। **माइनेके** जैसे विद्वान इतिहासकार को 'हिस्टोरिश्त्सात्साइट्श्रिफ्ट' के सम्पादक पद से हटा दिया गया और उसकी जगह एक नात्सी प्रचारक **फान म्यूलर** को संपादक बनाया गया। म्यूलर ने अपने पहले ही संपादकीय में लिखा कि इतिहास का निकटतम संबंध कविता से है और इतिहास को वर्तमान की सेवा करनी चाहिए। इसका अर्थ स्पष्ट था कि इतिहासकार हिटलर के नात्सीवाद को इतिहास के माध्यम से स्वीकार्य और शक्तिशाली बनाए।

वर्तमान के हाथों पूरी तरह बिका इतिहास इस प्रकार न केवल घोर पक्षपात का शिकार हो जाता है, बल्कि विनाश की पृष्ठभूमि तैयार करने में भी मदद करता है। यह हिटलरशाही के दौरान जर्मनी में अच्छी तरह उजागर हुआ।

भौतिकवादी इतिहास या ऐतिहासिक भौतिकवाद : इन सबसे अलग इतिहास की एक विशिष्ट व्याख्या कार्ल मार्क्स ने प्रस्तुत की है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर, जिसने अतीत को समझने का वैज्ञानिक उपकरण प्रस्तुत किया है, शुरू से ही प्रहार किया जाता रहा है। फ्रांसीसी इतिहासकार **मारू** ने व्यंग्य किया है कि यह पद्धति इतिहास और इतिहासदर्शन को दो भागों में बांटकर इतिहास को मात्र दर्शन की पुष्टि के लिए इस्तेमाल करती है। **रेनियर** ने आरोप लगाया है कि मार्क्सवादी इतिहास की स्वतंत्र अस्मिता को समाप्त कर देते हैं और उसे समाजशास्त्र का अंग बना देते हैं।

ऐसी आलोचनाओं के बावजूद यह निर्विवाद है कि इतिहास के अध्ययन-लेखन का मार्क्सवादी तरीका अन्य पद्धतियों से अधिक वैज्ञानिक है।

कार्ल मार्क्स ने हीगेल, फायरबाख और सैंसीमों का विशेष रूप से अध्ययन किया था। अंत में वह इस नतीजे पर पहुंचा कि मनुष्य परिस्थितियों को पैदा भले

करता हो, वह स्वयं भी परिस्थितिजन्य होता है। उसके अनुसार इतिहास मृत तथ्यों का संग्रह नहीं है जैसा कि 'पॉजिटिविस्ट' लोगों की व्याख्या से लगता है, न ही मनमाने ढंग से देखे गए अतीत के कारनामों का जमघट है जैसा कि आदर्शवादियों की व्याख्या से लगता है। उसके अनुसार, इतिहास वर्ग-संघर्ष के माध्यम से निरंतर विकासोन्मुख मानव-समाज के अध्ययन का आधार है।

मार्क्स ने इस बात की आलोचना की कि अब तक मनुष्य और प्रकृति के संबंधों को इतिहास से अलग करके देखा गया है। ऐसा समझने वाले इतिहासकारों ने राजनीतिक कार्यकलापों और विभिन्न प्रकार के धार्मिक तथा सैद्धांतिक संघर्षों में ही इतिहास को देखा है। इस तरह हर काल के भ्रमों का इतिहास भी साझीदार रहा है।

यह सच है कि मनुष्य और प्रकृति के भौतिक स्वरूप का विशद् अध्ययन इतिहास नहीं करता, पर उसकी शुरूआत इन्हीं प्राकृतिक आधारों और उनमें मनुष्य द्वारा किए गए परिवर्तनों के अध्ययन से होती है। मनुष्य जैसा होता है वैसी ही उनकी अभिव्यक्ति होती है और वह कैसा है, इसका सीधा संबंध उसके उत्पादन से, वह क्या उत्पादन करता है और कैसे उत्पादन करता है, से संबंधित होता है। मनुष्य का स्वभाव उसकी भौतिक स्थितियों पर निर्भर करता है, जो निश्चित ही उत्पादन प्रणाली पर आधारित होती हैं।

जीवन्त मनुष्य तक पहुंचने के लिए किया गया अध्ययन मनुष्य के कथन, कल्पना या अभिधारणाओं से नहीं शुरू होता, न ही इस आधार पर कि मनुष्य का कैसा वर्णन हुआ है, इसके बारे में क्या सोचा गया है, क्या कल्पना की गई है, अभिधारणा बनाई गई है। मार्क्सवादी दर्शन वास्तविक क्रियाशील मनुष्य के जीवन से शुरू होता है, उसके वास्तविक जीवनक्रम का अध्ययन करता है। इसके अनुसार जीवन चेतना से निर्धारित नहीं होता है, चेतना जीवन से निर्धारित होती है।

इतिहास की भौतिकवादी अभिधारणा की शुरुआत इस सिद्धांत से होती है कि सामाजिक संरचना का आधार जीवन क्रम को जारी रखने के लिए किया गया उत्पादन और उत्पाद का विनिमय है, कि हर समाज में संपत्ति का वितरण और समाज का वर्गों में विभाजन इस बात पर मुनहसर (आधारित) होता है कि उत्पादन क्या और कैसे होता है और उत्पाद का विनिमय किस प्रकार होता है। इस दृष्टिकोण के हर सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक क्रांति के मूलभूत कारण मनुष्य के मस्तिष्क में या 'अंतिम सत्य और न्याय' के प्रति मनुष्य की अंतर्दृष्टि में नहीं बल्कि उत्पादन और विनिमय के साधनों में हुए परिवर्तनों में प्राप्त होते है। उनकी तलाश दर्शन में नहीं, आर्थिक स्थितियों में करनी पड़ती है।

लेकिन यह कहना गलत होगा कि आर्थिक आधार एकमात्र आधार होता है। आर्थिक स्थितियां आधार होती हैं, पर अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) के विभिन्न तत्व जैसे वर्ग संघर्ष के राजनीतिक स्वरूप और संघर्ष के परिणाम, विजेता वर्ग द्वारा निर्मित संविधान, न्यायिक संगठन, संघर्षरत व्यक्तियों की मानसिक स्थितियां, राजनीतिक, न्याय संबंधी एवं दार्शनिक सिद्धांत, धार्मिक विचार और उसके मताग्रह भी इतिहास के विकास पर प्रभाव डालते हैं और कभी-कभी तो हावी दिखाई पड़ते हैं। मूलतः आर्थिक तत्वों की भूमिका निर्णायक होती है।

प्रकृति में कार्यरत और उद्घाटित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को समाज तक विस्तृत करने से ऐतिहासिक भौतिकवाद का जन्म हुआ जो मार्क्सवाद की विशेष देन है। इसके अनुसार मानव-समाज का समस्त इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। उत्पादन प्रणाली तथा तज्जन्य उत्पादन संबंधों के अनुसार मानव-समाज को इस प्रकार देखा गया कि पहले जब व्यक्तिगत संपत्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तो एक प्रकार का शुरुआती साम्यवाद (प्रिमिटिव कम्युनिज्म) था, फिर व्यक्तिगत संपत्ति के साथ दास प्रथा का आविर्भाव हुआ। इसके बाद सामंतवाद का दौर आया और उसी के गर्भ से पूंजीवाद का जन्म हुआ। पूंजीवाद में पूंजीपति के साथ ही सर्वहारा यानी अपनी मेहनत की ही कमाई खाकर जीने के ही संघर्ष में रत वर्ग का भी जन्म होता है। वही समाजवाद का वाहक बनता है। उनके क्रांतिकारी संघर्ष से ही समाजवादी क्रांति हो सकती है जो वैज्ञानिक समाजवाद की स्थापना करेगी। उस दौरान सर्वहारा के शासन में पूंजीवाद के विरुद्ध व्यापक संघर्ष जारी रहेगा। व्यक्तिगत संपत्ति के उन्मूलन के बाद धीरे-धीरे वर्ग का आकार खिसकेगा और फिर वर्ग-संघर्ष भी समाप्त होगा और एक वर्गविहीन समाज बनेगा। वही साम्यवाद (कम्युनिज्म) कहलाएगा।

अपने प्राथमिक रूप में 1871 ई. में मार्क्स-एंगेल्स के जीवनकाल में ही, पेरिस में कम्यून बना और कुछ हफ्तों के जीवनकाल में ही उसने समाजवाद की संभावनाओं को उजागर कर दिया। वास्तव में लेनिन के नेतृत्व में रूस में अक्टूबर 1917 में हुई समाजवादी क्रांति ने मार्क्स-एंगेल्स के विश्लेषण को सही साबित कर दिया और इतिहास वैज्ञानिकता के क्षेत्र में एक कदम आगे बढ़ गया।

सोवियत यूनियन के विघटन ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के विज्ञान को नहीं झुठलाया है, उसने बस यह सिद्ध किया है कि सोवियत यूनियन के प्रयोग में गलतियां हुईं जो अंततः विस्फोटक सिद्ध हुईं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ने एक ऐसी पद्धति प्रदान की है, जिसके माध्यम से मनुष्य

के 'ज्ञान' द्वारा 'अस्तित्व' को समझने के स्थान पर उसके 'अस्तित्व' के माध्यम से उसके 'ज्ञान' को समझा जा सकता हैं

इस प्रकार मारू और रेनियर जैसे विद्वानों की आलोचना भी मध्यवर्गीय पूर्वाग्रहों से ग्रस्त लगती है। सवाल यह नहीं है कि इतिहास की स्वतंत्र अस्मिता बनी रहती है या नहीं या कि वह किसी सामाजिक संरचना और उसके विकास को पूर्व निश्चित ढंग से देखता या निर्धारित करता है। सवाल यह है कि इतिहास एक तरीका है वर्तमान को अतीत के माध्यम से समझने का, जिससे मनुष्य की सतत प्रगतिशील यात्रा का स्वरूप स्पष्ट होता है, मनुष्य के संघर्ष के मुद्दे और जय-पराजय के कारण समझ में आते हैं और उसे भविष्य के प्रति आश्वस्त किन्तु उसके लिए संघर्षरत रहने की प्रेरणा मिलती है।

इस विहंगम सर्वेक्षण के बाद दो धाराएं स्पष्ट होती हैं :

(1) इतिहास में पूर्वाग्रहों से मुक्ति नहीं मिल सकती, इसलिए इतिहास का वर्तमान के लिए उपयोगी होना ही उसकी परिणति हैं।

(2) इतिहास को बिना पूरी तरह विज्ञान बनाए उसका कोई महत्व नहीं हो सकता।

इन धाराओं को समझने और इतिहास की स्वीकार्य पद्धति का निर्धारण करने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि इतिहास लिखा क्यों जाता है? इतिहास लिखने का एक कारण यह हो सकता है कि व्यक्ति को सहज ही अपने अतीत से लगाव होता है, उसकी याद करने में, जैसा कि **पालवाइस** का मत है, एक प्रकार का आनंद मिलता है कि हम अकेले नहीं हैं, हम एक ऐसे समाज के अंग हैं जो वर्षों से जिंदा है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि जीवित लोग मृत लोगों के बीच अपना स्रोत स्थापित करके आश्वस्त हो लेते हैं।

इसके अतिरिक्त इतिहास के माध्यम से किसी गरिमामय घटना, किसी महान व्यक्ति या किसी गौरवशाली काल को जीवन्त किया जाता है ताकि वर्तमान पीढ़ी को प्रेरणा मिल सके। वर्तमान के लिए अतीत से कोई सीख मिले, इसलिए भी इतिहास लिखा जाता है। इतिहास इसलिए भी लिखा जाता है कि मानव सभ्यता की विकास प्रक्रिया के पैटर्न का पता चल जाय ताकि ऐसे समीकरण बन सकें जिनके माध्यम से मानव के इतिहास को उसकी नियति से जोड़ा जा सके, कुछ नियम, कानून बनाए जा सकें। प्राकृतिक विज्ञान के कारण-कार्य संबंधों के आधार पर वर्तमान का कारण अतीत में ढूंढ़ने के लिए भी इतिहास लिखा जाता है। इतिहास मात्र इसलिए भी लिखा जाता है कि अतीत को जाना जाए, कालक्रम में अपनी स्थिति समझी जाए, अपने को जाना जाए। अन्त में इतिहास लिखने की यह भी अनिवार्यता है कि मानव के विकास-

क्रम को समझने का, मनुष्य की यात्रा के मंजिलों-पड़ावों और गंतव्यों को समझने का, यही तरीका है।

इनमें से कोई भी लक्ष्य हो, इतिहासकार हमेशा यही कहता है कि उसने सच्चा इतिहास लिखा है-तब भी जबकि वह ऐतिहासिक तथ्य को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत कर रहा हो या जानता हो कि जो वह लिख रहा है वह आंशिक सत्य है। ऐसी स्थिति में यह तो मानना ही पड़ेगा कि इतिहासकार भले ही सत्य की स्थापना न कर पा रहा हो, उसका लक्ष्य यही होता है।

अब हम यह देखें कि इतिहासलेखन की प्रक्रिया क्या है?

सबसे पहले तो जिस लक्ष्य, जिस स्वार्थ से इतिहासकार इतिहास लिखने की बात सोचता है वही एक निर्णायक तत्व बन जाता है। सारे इतिहासकार अतीत में रुचि, कालक्रम की समझदारी और अपने स्रोतों की समझ के लिए ही इतिहास नहीं लिखते। मनुष्य अपने और चीजों के स्वभाव से सीमित हो जाता है, इसलिए ज्ञान के क्षेत्र में भी हर समय उसका और विषयवस्तु का स्वभाव अपनी भूमिका अदा करते हैं।

अब चाहे जो भी कारण हो, रुचि के अनुसार इतिहासकार अपना विषय चुनता है- कोई विभूति, कोई काल, कोई राष्ट्र या समाज और बहुत चेतनशील हुआ तो ऐक्टन की बात मानकर काल नहीं समस्या को अपना विषय बनाता है। वैसे ऐसे भी होता है कि शोध छात्र के पास शोध की कोई रूपरेखा नहीं होती है-वह जानता ही नहीं कि उसे किस विषय पर क्यों काम करना है। ऐसे एक छात्र ने जब डच इतिहासकार हुइनत्सुइगा से शोध का विषय पूछा तो वे बोले, "अच्छा! तो अब यह भी पूछोगे कि शादी किससे करूं।"

विषय के चुनाव से इतिहासकार की भूमिका शुरू हो जाती है। यहीं से उसकी इच्छा, उसका चुनाव काम करने लगते हैं, क्योंकि जैसे ही किसी विषय पर काम करने की, धूमिल ही सही, रूपरेखा बनती है, वैसे ही एक परिकल्पना मस्तिष्क में बन जाती है। भले ही कोई उसके प्रति चैतन्य न हो पर वह बनती अवश्य है।

इस मनःस्थिति में वह तथ्यों की भूलभुलैया में प्रवेश करता है। तथ्यों का संसार निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। कई खोजें हो रही हैं, शोधार्थ अभिलेखागार खोले जा रहे हैं, व्यक्तिगत एवं सरकारी दस्तावेज प्रकाशित हो रहे हैं। मौखिक स्रोतों का उपयोग होने लगा है। ये सारे तथ्य हर विषय के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकते। अगर हों तो भी एक इतिहासकार के लिए संभव ही नहीं कि वह सारे तथ्यों को इस्तेमाल करने की कौन कहे, पढ़ भी सके। ऐसी स्थिति में उन तथ्यों में से छांटना चुनना अनिवार्य है।

यह चुनाव ही निर्णायक बिंदु है। कैसे होता है यह चुनाव? अगर इस चुनाव में इतिहासकार अललटप्पू चल पड़ता है तो वह कहीं नहीं पहुंचता। वह स्वयं तो भटकता ही है, जो कुछ लिखता है वह भी भटकाने वाला होता है। अगर वह अपनी परिकल्पना को हर कीमत पर साबित करने के लिए तथ्यों का चुनाव करता है तो वह तथ्यों को अंधे का लाठी की तरह इस्तेमाल करेगा और वहीं जाएगा जहां पहुंचना चाहता था। इस प्रकार वह स्वयं यदि अपने गंतव्य पर पहुंच भी जाएगा तो इतिहास भटक जाएगा। अतः अपनी परिकल्पना के सांचे में जब भी इतिहासकार इतिहास को जबदरस्ती ढालता है तो वह बदशक्ल हो जाता है।

लेकिन यदि उसकी परिकल्पना दुराग्रहपूर्ण नहीं है और वह मुक्त होकर अपनी परिकल्पना के संदर्भ में तथ्यों का चुनाव करता है तो एक गतिशील प्रक्रिया शुरू होती है। संभव है कि प्राप्त तथ्यों के आधार पर इतिहासकार के अनुमान गलत साबित हों या उसकी परिकल्पना में बहुत से परिवर्तन करने पड़ें। इस प्रकार परिकल्पना और तथ्यों के बीच एक प्रकार की द्वंद्व की स्थिति बनी रही तो न तो तथ्यों के साथ मनमाना व्यवहार होगा और न परिकल्पना के साथ एक पूर्वाग्रहपूर्ण और अंधा लगाव ही रहेगा। इतिहास के तथ्य नग्न नहीं हो सकते, वे ऐसे तथ्य होते हैं जिन्हें इतिहासकार की दृष्टि संवार चुकी होती है। विज्ञान के क्षेत्र में भी एक ही तथ्य एक सीमा तक भिन्न वैज्ञानिकों द्वारा भिन्न तरह से देखे जाते हैं। लेकिन विज्ञान की प्रक्रिया भिन्न होती है। वहां एक ही तथ्य को प्रयोगशाला में बार-बार दुहराया जा सकता है, कोई एक घटना अलग से देखी जा सकती है और आवश्यकता पड़ने पर उसे फिर 'घटाया' जा सकता है। पहले के नियमों और कानूनों को ध्यान में रखकर परिकल्पना को प्रयोगों के द्वारा परखा जा सकता है और नए नियम बनाए जा सकते हैं जिनका सार्वभौमिक महत्व होता है और जिन्हें सच्चाई मान लिया जाता है।

इतिहास के तथ्य कभी आपने को ज्यों का त्यों दुहराते नहीं, न उन्हें फिर से प्रयोगशाला में दुहराया जा सकता है। वैज्ञानिक के सामने जो तथ्य होते हैं, वह उन्हें बाहर से 'आउटसाइडर' की तरह देख सकता है। इतिहासकार ऐसा नहीं कर सकता। वह तो इतिहास का कर्ता और विषयवस्तु दोनों ही होता है। लाख चाहने पर भी वह उतनी दूरी नहीं ले सकता जितनी विज्ञान के क्षेत्र में स्वयं ही आ जाती है।

इतिहास अतीत और वर्तमान के सतत द्वंद्व को लेखनबद्ध करता है लेकिन वह मशीन या टेपरिकार्डर तो होता नहीं। वह एक व्यक्ति होता है जिसका अपना परिवेश होता है, जो किसी देशकाल का प्रतिनिधि होता है। ऐसी स्थिति में जब वह 'मानवीय' तथ्यों के आधार पर इतिहास लिखता है तो वैज्ञानिक की तटस्थता नहीं ले सकता।

अपनी विरासत, परिवेश, वर्ग और विचारों के प्रभाव से वह मुक्त नहीं हो सकता।

इतिहास स्वतः नहीं लिखा जाता। उसे तथ्यों के माध्यम से इतिहासकार लिखता है। इस तरह इतिहासकार की भूमिका निर्णायक होती हैं। लेकिन वह स्वयं भी पूरी तरह मुक्त नहीं होता। देश-काल की परिस्थितियां, उसका परिवेश, वर्गचेतना उसके लेखन हो हर पल प्रभावित करती है और वह अपने ही ढंग से इतिहास लिखने पर मजबूर रहता है। ऐसी स्थिति में एक जागरूक वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न इतिहासकार ही अपनी मंशा और कर्तव्य के बीच संतुलन बनाए रख सकता है- वही तथ्यों को बात कहने दे सकता है, अपनी बात कहता हुआ भी।

यह एक सच्चाई है कि मनुष्य के कुछ पूर्वाग्रह कभी पूरी तरह नियंत्रित नहीं हो सकते। फ्रांसीसी वैज्ञानिक कोंदोरसे जैसा व्यक्ति भी, जो इतिहास को विज्ञान मानता था, स्वीकार करता था कि मनुष्य अपने बचपन, अपने देश, अपने काल से तमाम ऐसे पूर्वाग्रह समेटता रहता है जिन पर उनके विनाश की पूरी तैयारी के बावजूद वह विजय नहीं पाता। लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि इतिहासलेखन की वस्तुनिष्ठता (आब्जेक्टिव) को पूर्णतया असंभव मानकर इतिहास को इतिहासकार की चेतना और उसके वर्तमान का बिम्ब मान लिया जाए।

एक सीमा तक वस्तुनिष्ठ (वैसे वस्तुनिष्ठता अपने में सापेक्ष होती है) इतिहास की रचना हो सकती है, यदि :

(1) इतिहास में प्रगति के सिद्धांत को मानकर समाज के विकास में आर्थिक परिस्थितियों की प्राथमिकता को मान लिया जाए। समाज के द्वंद्वात्मक स्वरूप को मानकर संघर्ष को विकास का उपकरण मान लिया जाए।

(2) एक शोध-पद्धति अपनाकर उसके अनुशासन में काम किया जाए।

(3) जहां तक हो सके, सारे तथ्य जुटाए जाएं।

(4) प्राप्त तथ्यों को न नजरअंदाज किया जाए, न उसमें मनमाने ढंग से उलट-फेर किया जाए।

(5) तथ्यों को उनके संदर्भ से काटकर न देखा जाए।

(6) तथ्यों को विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाए। जब अध्ययन 'माइक्रो' स्तर का हो तब भी परिप्रेक्ष्य 'मैक्रो' रखा जाए।

(7) इतिहासकार चेतना से लैस हो और सहज आत्मपरकता के बावजूद अपने को एक अनुशासन का प्रतिनिधि मानकर दृष्टि को सायास उदात्त बनाए रखे।

इस प्रकार एक ईमानदार इतिहासकार अपने उद्देश्य की पवित्रता और अपने विषय के अनुशासन और मर्यादा का निर्वाह करता हुआ यदि इतिहासलेखन करता है

तभी उसका लेखन सार्थक माना जाएगा। अतिवादी दृष्टिकोण इतिहास के लिए हानिकारक सिद्ध होता रहा है। यदि वर्तमान और इतिहासकार की अस्मिता को ही महत्वपूर्ण मान लिया जाए तो इतिहास नितान्त पक्षपातपूर्ण और अस्थिर हो जाएगा। जो जैसे चाहेगा लिखेगा और दूसरा उसे बदल देगा। समाजवादी कहे जाने वाले देशों में भी शासन बदलने पर नेता का अवमूल्यन कर देना और घटनाओं को वर्तमान राजनीति के अनुसार तोड़ना-मरोड़ना इतिहास का अवमूल्यन ही है। ऐसे में तो इतिहास का स्वरूप निश्चित होना ही कठिन हो जाएगा, और यदि मात्र अतीत और तथ्यों को महत्व दिया जाए तो इतिहास एक शुष्क-स्थैतिक सूची बनकर रह जाएगा जिसमें तिथिवार घटनाओं और व्यक्तियों का महत्वहीन ब्यौरा होगा, विकास की वैज्ञानिक प्रवहमानता नहीं।

पहली स्थिति में इतिहासकार **रूसो** को अपना प्रवक्ता बनाएगा जो कहता है कि तथ्यों का स्वरूप इतिहासकार के मस्तिष्क में उसके अपने आग्रहों और रुचियों के आधार पर निश्चित होता है। यह स्थिति मान ली जाए तो इतिहास एक कठपुतली बनकर रह जाता है जिसे कोई भी मनमाने ढंग से नचाएगा और शक्तिशाली लोग अपना हित देखकर इतिहासकार को जमूरा बनाकर छोड़ेंगे।

दूसरे ध्रुव का प्रेमी शायद बरी या हेम्पेल को अपना अलमबरदार बनाए, पर ऐसी स्थिति में इतिहास न विज्ञान बन पाता है, न कला और न ही इतिहास रह जाता है। ध्रुवीकरण के पक्षधर लोग वस्तुनिष्ठ विज्ञान और विज्ञानेतर को कला मानकर ज्ञान को दो सर्वथा स्वतंत्र और भिन्न विधाओं में ढाल देते हैं और इतिहास को अपनी अस्मिता से महरूम कर देना चाहते हैं, जो गलत है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि इतिहासकार सब हो सकता है किसी का भोंपू (हिज मास्टर्स वायस) नहीं हो सकता। यदि वह ऐसा करता है और किसी व्यक्ति, तंत्र, राज्य, पार्टी-संगठन, जाति-धर्म या अपने ही स्वार्थों का गुलाम होकर तदनुकूल इतिहास लिखता है तो निश्चित ही वह इतिहास को भ्रष्ट करता ही है, अंततोगत्वा जिसके लिए वह ऐसा करता है उसका भी भला नहीं करता।

यह सच है कि इतिहासकार एक निर्विकार यंत्रवत् सर्वथा निरपेक्ष प्राणी नहीं होता। ऐसा व्यक्ति इतिहासकार हो ही नहीं सकता। लेकिन यदि वह अपनी तथा इतिहास की सीमाओं को जानता है तो वह अपने इतिहासकार को अपनी जाति, धर्म और देश-प्रेम अर्थात् अपने जीवन की अन्य रुचियों को अपने इतिहासकार पर हावी होने से बचा सकता है। यह कार्य जितना ही कठिन और श्रमसाध्य है, इतिहासकार का उतना ही उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। वह एक क्षण को भी भूल नहीं सकता कि

वह अतीत और वर्तमान की सेवा में एक साथ रत है, लेकिन एक गुलाम की तरह नहीं, एक मिशनरी, एक वैज्ञानिक की तरह। उसका वर्तमान के प्रति लगाव तो सहज और स्पष्ट होता है, होगा ही, अतीत के प्रति भी एक रूमानी लगाव संभव है, सहज भी। पर वर्तमान के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह जहां स्वयं हो जाता है, अतीत के प्रति उत्तरदायित्व की चेतना और उसके निर्वाह के लिए सतत-सजग प्रयास करना अनिवार्य है। तभी इतिहासकार अपने लेखन की सीमाओं के संदर्भ में अपनी जिम्मेदार भूमिका निभा सकता है।

और जिम्मेदारी का निर्धारण मनोगत ढंग से नहीं हो सकता। सही इतिहास लिखने का कोई आसान नुस्खा भी नहीं सुझाया जा सकता। पर यदि चेतनशील इतिहासकार अपने परिवेश का विश्लेषण करता है, उसमें अंतर्निहित द्वंद्व को समझता है, उज्ज्वल भविष्य के प्रति आश्वस्त है तो उसे समाज की संरचना का भौतिकवादी आधार दिखाई पड़ेगा। उसे विकास की प्रक्रिया समझ में आएगी, समाज की वस्तुगत स्थितियां उजागर होंगी और वह अतीत की जो व्याख्या करेगा वह अपेक्षतया वस्तुनिष्ठ होगी। ऐसे इतिहास में यदि कहीं पूर्वाग्रह दिखाई भी पड़े तो वे जाति, धर्म या राष्ट्र के नाम पर ग्रंथि बन जाने वाले पूर्वाग्रहों की अपेक्षा अपने वृहत्तर परिप्रेक्ष्य और सारी दुनिया के मेहनतकश लोगों यानी दुनिया के भारी बहुमत के हित को लक्ष्य मानने के कारण स्वीकार्य होंगे।

इस प्रकार इतिहास के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने मात्र से स्पष्ट हो गया होगा कि आज इतिहास अपनी अवधारणा, स्वरूप और उपयोगिता में पहले जैसा नहीं रह गया है। आज वह जहां स्थापित हो चला है वहां उसे बौद्धिक संस्कृति का अनिवार्य अंग और सामाजिक जीवन को समझने तथा बदलने का आवश्यक उपकरण समझा जाता है। पर यहां तक की यात्रा बहुत बीहड़ और ऊबड़-खाबड़ रही है। आगे की राह भी आसान और हमवार नहीं लगती। इस शताब्दी में विज्ञान, समाज-विज्ञान, साहित्य-संस्कृति सब कुछ की समझ और भूमिका बदलने वाली है।

3. इतिहास कैसे यानी इतिहास की रचना कैसे होती है?

एक इतिहास वह होता है जो इतिहासकार द्वारा रचा जाता है और उसी को मुख्यतः इतिहास कहा जाता है पर एक वह विराट और सूक्ष्म इतिहास होता है जो अतीत के सार-संकलन के रूप में समाज के मानस में दर्ज होता रहता है। यहां हम रचे गए इतिहास की रचना प्रक्रिया की ही बात करेंगे। किसी इतिहासकार को अतीत की कोई समस्या, कोई मुद्दा कोई घटना-परिघटना, कोई व्यक्तित्व या कोई काल आकर्षित करता है और फिर वह उस विषय पर स्रोत सामग्री जुटा कर उसे एक पाठ के रूप में प्रस्तुत करता है। उसे उस विषय का इतिहास मान लिया जाता है।

इतिहास में कुछ भी अंतिम सत्य के रूप में स्थापित नहीं हो सकता सिवाय तिथिक्रम और नामादि जैसे सामान्य ब्योरों के। चूंकि अतीत के तथ्यों का विस्तार और उसके परतों की सीमा अनन्त लगती है इसलिए तथ्यों की तलाश जारी ही रहती है। सुदूर अतीत को कौन कहे समकालीन लगने वाले अतीत के भी सभी तथ्यों को पकड़ पाना असम्भव नहीं तो अत्यंत कठिन तो है ही। इसके अलावा व्यक्ति ही नहीं समाज की ग्रहणशीलता भी बढ़ती जाती है। आज का व्यक्ति और समाज कठिन विज्ञान और कला को आत्मसात् करने में पहले से अधिक समर्थ है। आज का विद्यार्थी भी विज्ञान को **आर्कमिडीज, आर्यभट्ट** और **न्यूटन** से अधिक समझने और आगे ले जाने में समर्थ है। आज का कवि कलाकार **कालिदास, गालिब, शेक्सपियर** आदि से अधिक समर्थ है यथार्थ को परखने और उसे पचा कर रचने में। ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं लेकिन यह भी कह देना उचित होगा कि हमेशा ऐसा होता ही हो यह भी सच नहीं।

ऐसे में मानव-समाज के उत्तरोत्तर बौद्धिक-विकास का समुच्चय मनुष्य को देखने-समझने की बेहतर शक्ति देता है और इस कारण वह वर्तमान ही नहीं अतीत को भी बेहतर समझ पाने में समर्थ होता जाता है। इसीलिए इतिहास की अवधारणा और पद्धतियां भी निरन्तर विकसित होती जा रही हैं। इसी कारण इतिहास में शोध और व्याख्या-पुनर्व्याख्या का क्रम लगातार चलता ही रहता है। इसी क्रम में शोध और व्याख्या का स्वरूप भी बतलता जाता है।

इतिहास का जनक कहे जाने वाले हेरोदोतस के लिए काफी था कि वह लोगों से सुन-सुनकर, मिल-जुलकर जानकारियां हासिल कर ले और उसे इतिहास की तरह प्रस्तुत कर दे। इसी समय थूसीदीदस ने इतिहासकार द्वारा एक 'इनसाइडर' की तरह स्वयं देखने-जानने पर बल दिया था। यही शोध था। व्याख्या में जानकारी और कल्पना का द्वन्द्व चलता रहता था। भारतीय इतिहासलेखन में हिरावल समझे जाने वाले बारहवीं शताब्दी के कश्मीरी इतिहासकार **कल्हण** के लिए शोध का अर्थ था अपने पहले के तद्विषयक लेखन का अनुशीलन और समकालीन जानकारों से जानकारी हासिल करना तथा व्याख्या का निर्णायक तत्व था उपेदशात्मकता और शिक्षाप्रदता।

आधुनिक काल में भी शताब्दियों तक अतीत का लेखन ही मुख्य स्रोत हुआ करता था शोध के लिए। सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में **माबियों** ने चर्च के दस्तावेजों को शोध के लिए जरूरी बताया और शोध का क्षेत्र विस्तृत होने लगा।

मुख्य और निर्णायक विस्तार उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। एक ओर तो नेपालियन के मिस्र विजय ने पुरातत्व की स्थापना को बहुत आगे बढ़ा दिया। दूसरे रान्के ने सरकारी अभिलेखागारों की छानबीन के महत्व को स्थापित कर सरकारी दस्तावेजों को शोध का खजाना सिद्ध कर दिया।

तब से इतिहास के स्रोतों का क्षेत्र निर्बाध रूप से विस्तार पाता जा रहा है। आज तो इतिहासकार वैसे ही खोज करता है जैसे **अगाथा क्रिस्टी** के जासूसी उपन्यासों का जासूस **एरक्यूल प्वारो**। कोट का एक बटन या सिगरेट जलाकर फेंकी गई एक तीली भी रहस्य के उद्घाटन के लिए एक दिशा संकेत और सुराग बन जाता है। इतिहासकार भी एक लोक-गीत या प्राइवेट डायरी में लिखी एक टिप्पणी या मृदभांड के एक टुकड़े में किसी देशकाल की खिड़की खोल सकता है।

अन्तर्विषयकता : वैसे भी आज ज्ञान एक ओर अति विशिष्ट होता जा रहा है तो दूसरी ओर विभिन्न विषयों के बीच परस्पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। प्राकृतिक विज्ञान के एक ओर भौतिकी के अन्दर भी नाभिकीय भौतिकी जैसा 'स्पेशलाइजेशन' बढ़ रहा है तो दूसरी ओर बायो-फिजिक्स में उसका जीवन-विज्ञान से जुड़ाव चिह्नित हो रहा है।

जैसे प्रकृति एक है तो प्राकृतिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के बीच परस्पर जुड़ाव है वैसे ही समाज एक है इसलिए विभिन्न पद्धतियों और सरोकारों से समाज का अध्ययन करने वाले विषयों के बीच अन्तर्विषयक जुड़ाव है। जैसे इतिहास में जब सामाजिक इतिहास का आयाम देखना होगा तो समाजशास्त्रीय दृष्टि लाभदायक होगी

और जब आर्थिक इतिहास को चिह्नित करना हो तो अर्थशास्त्रीय जानकारी। इतिहास के दर्शन या विचारों का इतिहास देखते हुए निश्चित ही दर्शन की दृष्टि उपयोगी होगी। इसी तरह आज कोई भी विषय हो, यहां तक कि प्राकृतिक विज्ञान या जीवन का छोटा से छोटा दैनन्दिन क्षेत्र उसमें अध्ययन की एक पद्धति ऐतिहासिक ही होती है। किसी भी विषय को परिप्रेक्ष्य देने के लिए उसे उसके अतीत से जोड़ना जरूरी हो जाता है।

ऐसी व्यापकता के माहौल की कल्पना करें कि **हेरोदोतस, कल्हण, जिआउद्दीन बरनी** या **अबुल फजल** ही नहीं डॉ. ईश्वरी प्रसाद भी सुमित सरकार से मिलते हैं तो उनकी सरकार की शोध प्रक्रिया देखकर क्या प्रतिक्रिया होगी? वे चमत्कृत या क्षुब्ध हो जाएंगे कार्यभार देखकर। क्यों? क्योंकि अतीत से तनिक भी स्पर्श वाली कोई भी चीज इतिहास का स्रोत बन सकती है। इस तरह स्रोतों की ही व्यापकता पहले के इतिहासकारों को क्षुब्ध कर देगी। पहले तो प्राचीन इतिहास के रचयिताओं के लिए फील्डवर्क जरूरी था अब तो आधुनिक इतिहास का लेखक भी दर-दर मारा-मारा फिरता है- कभी कोई निजी पत्रव्यवहार जुटाने तो कभी मौखिक स्रोत रिकार्ड करने। इसलिए पहले तो यही देख लें कि शोध के स्रोत कहां-कहां बिखरे होते हैं?

मौखिक स्रोत : इतिहासलेखन का आदि स्रोत ही मौखिक रहा है क्योंकि समाज ने लिखना-पढ़ना विकसित करने के बहुत पहले नैसर्गिक तौर पर अपने को अभिव्यक्ति करने और संवाद के लिए मौखिक संचार को विकसित कर लिया था। इसीलिए सारी दुनिया में लोगों ने अपने अतीत को बुजुर्गों के किस्सों, लोककथाओं जानने के लिए सहारा लेना शुरू किया।

मार्क्स-एंगेल्स ने ऐसे बहुत से लोकगीत और लोककथाओं की ओर इशारा किया है जिनमें समाज का मर्म परिलक्षित हुआ है। अब तो बाकायदा इन्हें इतिहास का अर्थवत्तापूर्ण स्रोत माना जाता है, खासतौर पर उन क्षेत्रों में जहां अन्य स्रोत उपलब्ध नहीं। पर बाद में लिखित शब्द का प्राधिकार स्थापित होते ही मौखिक परम्परा गौण होती गई। आधुनिक काल में इतिहास के अन्य स्रोतों-मुख्य तौर पर लिखित दस्तावेजों और पुरातात्विक तथ्यों, को विशेष महत्व मिलने लगा। पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका में मौखिक स्रोतों की पुनर्स्थापना हुई और आज एक बार फिर सामाजिक सरोकार रखने वाले इतिहासकार मौखिक स्रोतों पर बल देने लगे हैं।

मौखिक स्रोत उन समुदायों के इतिहास के लिए तो अनिवार्य हैं ही जहां अन्य स्रोत उपलब्ध ही नहीं, जैसे औपनिवेशिक काल के पहले का अश्वेत अफ्रीका या भारत के ही पूर्वोत्तर भारत के क्षेत्र जैसे नागालैंड व मिजोरम आदि। दूसरे, जहां अन्य

स्रोत उपलब्ध भी हैं वहां बहुमत जो अनपढ़ है उसकी उपस्थिति और भूमिका तथा उसका अपना दृष्टिकोण समझने के लिए उसकी मौखिक राय ही एकमात्र स्रोत है।

मौखिक स्रोत इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि उसमें जनता की राय उसी की जुबानी मिल जाती है। उसकी विश्वसनीयता का प्रश्न उठाया जाता है तो इतिहास का कोई भी स्रोत बिना इतिहासकार द्वारा प्रमाणित हुए प्रामाणिक नहीं माना जाता। अगर इतिहासकार बेईमानी करना चाहता है या अकुशल है तो वह पुरातत्व के प्रमाणों का भी गलत इस्तेमाल करेगा और अगर वह वस्तुनिष्ठ तथा योग्य इतिहासकार है तो गल्प-गाथाओं और कुत्सा-प्रचार को भी इतिहास की सच्चाई के लिए इस्तेमाल कर लेगा। वास्तव में समाज के यथार्थ को उजागर करना ही अगर उद्देश्य है तो वह यथार्थ जहां भी जितनी भी परतों में हो उसे ढूंढ़ना तो जरूरी होगा ही। अगर इतिहास को वास्तव में 'यूनीवर्सल' होना है - अर्थात् समाज को समग्रता में लेना है, तो मौखिक स्रोत की अर्थवत्ता बनी रहेगी क्योंकि न तो सबके बारे में लिखा जाता है न सब लिखते हैं पर कहने की क्षमता सबमें होती है। मौखिक स्रोतों के परिष्कार और उनके अन्य स्रोतों से तुलना की पद्धतियां विकसित होती जा रही हैं जिसके कारण उनकी उपयोगिता बढ़ती जा रही है।

अन्ततः मौखिक इतिहास जन-इतिहास के लिए अनिवार्य है और वह जन के सशक्तीकरण के लिए भी एक जरूरी उपकरण है।

साहित्य : प्राचीन काल के इतिहास का मुख्य स्रोत साहित्य ही रहा है। भारत में वैदिक साहित्य ही तत्कालीन इतिहास का अधिकांशतः उपलब्ध स्रोत रहा है। जातक और पुराण आदि भी मुख्यतः साहित्य ही माने जाते हैं जबकि उनमें इतिहास के असाधारण प्रमाण विद्यमान हैं। मध्यकाल के इतिहास के लिए भी साहित्य महत्वपूर्ण स्रोत था। कल्हण और बरनी उसका प्रयोग करते हैं। आधुनिक काल में काफी दिनों तक साहित्य को काल्पनिक और एक व्यक्ति की रचना मानकर नजरअंदाज किया जाता रहा। मुख्य कारण यह था कि अन्य स्रोत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे।

पर धीरे-धीरे यह अहसास बना कि साहित्य में यदि सामाजिक यथार्थ ही परिलक्षित होता है- यदि वह समाज का दर्पण है, तो उसके माध्यम से अतीत का पुनर्निर्माण क्यों न किया जाए। इतिहासकारों ने माना की फ्रांसीसी क्रांति के समय के फ्रांस और इंग्लैंड को जानने के लिए चार्ल्स डिकेंस का 'टेल ऑफ टू सिटीज' और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों के लिए तोल्सतोय के 'वार ऐंड पीस' जैसा स्रोत कोई और हो ही नहीं सकता। भारतीय इतिहास में भी अगर राष्ट्रीय आंदोलन के

समय के भारत को जानना है तो **टैगोर, प्रेमचंद, सुब्रमनियम भारती** और **जोश मलीहाबादी** आदि के साहित्य के बिना समाज को ठीक से कैसे जाना जा सकता है?

यह अवश्य करना होता है कि साहित्य को खंगालने के लिए सूक्ष्म उपकरण इस्तेमाल करने होते हैं। इतिहास में विविध प्रकार के स्रोतों में से प्रासंगिक और विश्वसनीय तथ्य निकालने के लिए अलग-अलग पद्धतियां विकसित की गई हैं। साहित्य समाज की संरचना ही नहीं उसकी चेतना को भी प्रतिबिम्बित करता है और सूक्ष्म उपकरणों के माध्यम से साहित्यकार की कल्पना द्वारा पिरोया हुआ यथार्थ अलग किया जा सकता है। इस तरह इतिहास एकायामी न रहकर बहुपक्षीय हो सकता है और अतीत के तथ्य की कई परतें उजागर कर सकता है।

पुरातत्व : अतीत को जानने के सबसे प्रामाणिक स्रोत आजकल पुरातात्विक स्रोत ही माने जाते हैं। उनके परीक्षण के अधुनातन उपकरण उसकी वस्तुगतता को पूरी तरह स्थापित कर देते हैं। इसलिए उसे सबसे अधिक विश्वसनीय माना जाता है। जैसे 'कार्बन डेटिंग' द्वारा किसी भी वस्तु का काल निर्धारण आज संभव हो गया है। इसीलिए आज सैटेलाइट के माध्यम से दुर्गम क्षेत्रों में खोए और पानी के नीचे दबे भग्नावशेषों को ढूंढ़ निकालने पर जोर दिया जाने लगा है। परिणाम भी सामने आए हैं। लातिन अमरीका के घने जंगलों और अरब सागर में छुपी सभ्यताओं (द्वारका) का इतिहास उजागर होता जा रहा है।

पुरातत्व के क्षेत्र में विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी में तेजी आई। नेपोलियन ने जब मिस्र पर कब्जा किया तो वहां से प्राचीन मिस्री सभ्यता के ढेरों अवशेष पेरिस पहुंच गए। तब से विजेताओं ने विजित क्षेत्रों से अपने-अपने देशों के संग्रहालयों को भर डाला। मिस्र, मेसोपोटामिया, भारत, चीन जैसी प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष सतह से ऊपर तो थे ही पर प्रायः धरती के नीचे दबे पाए गए। खुदाई ने एक नया संसार ही उजागर कर दिया। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा जैसी खुदाई पहले से ही विश्व के दूसरे क्षेत्रों में जारी थी।

पुरातत्व ने पूरी की पूरी सभ्यताएं ढूंढ़ निकालीं जैसे हड़प्पा सभ्यता जिसका आज समस्त उत्तर-पश्चिम भारत में विस्तार दिखाई पड़ता है। आज पुरातत्व में वैज्ञानिक पद्धतियां इतनी विकसित हैं कि तत्कालीन समाज की आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक दशा को जनाने की खिड़कियां खुलती जा रही हैं। इनकी प्रामाणिकता के नाते आज स्थिति यह है कि बिना पुरातात्विक प्रमाणों के कोई शोध पूर्ण ही नहीं माना जाता–विशेषकर प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के लिए।

इसी तरह सिक्कों के अध्ययन और शिलालेखों के अध्ययन ने इतिहासकार की क्षमता बढ़ा दी है। एक सिक्का अपने समय के आर्थिक ही नहीं सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन पर भी प्रकाश डाल सकता है। तिथि द्वारा वह काल निर्धारण करता है। सिक्का किस धातु का और कैसा बना है समाज की कुशलता और सौन्दर्यबोध पर टिप्पणी करता है। उस पर खुदी इबारत और अन्य निहित तथ्य राजनीतिक स्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं।

शाम्पियों ने जब हिओरोग्लिफ अर्थात् मिस्र की प्राचीन लिपि पढ़ ली और प्रिन्सेप ने अशोक के लाटों की लिपि को समझ लिया तो प्राचीन काल मुखर हो गया। आज हड़प्पा सभ्यता की लिपि पढ़ने के प्रयास सारी दुनिया में जारी हैं। जिस दिन वह पढ़ ली गई उस दिन भारत के इतिहास का पुनर्लेखन अनिवार्य हो जाएगा।

अभिलेखागार : जब से लिपि का आविष्कार हुआ सभी शासक और विकसित संस्थाएं अपने दस्तावेज सुरक्षित रखने की व्यवस्था करने लगीं। कागज के आविष्कार के बाद यह और आसान हो गया। सारी दुनिया में सरकारी दफ्तरों और उनके अभिलेखों का प्रमाण मिलता है। फ्रांस में सत्रहवीं शताब्दी में ही राष्ट्रीय स्तर पर 'आरशीव नासिओनाल' (राष्ट्रीय अभिलेखागार) **कार्डिनल रिशलिउ** ने गठित किया था। तभी माबियों ने चर्च के दस्तावेजों के इतिहासलेखन में इस्तेमाल की बात उठाई थी।

पर वास्तव में अभिलेखागार इतिहासलेखन के प्रमुख स्रोत बने उन्नीसवीं शताब्दी में प्रख्यात जर्मन इतिहासकार रान्के की शोध पद्धति के कारण। कहा जाता है उसने यूरोप के अखिलेखागार एक तरह से छान मारे थे। उसने जिस पद्धति को बढ़ावा दिया उससे दस्तावेजी तथ्य प्रमुख हो गए। आज सारी दुनिया में शोध के सबसे बड़े केन्द्र अभिलेखागार ही बने हुए हैं।

भारत में भी ब्रिटिश राज के दौरान ही हर दफ्तर में एक 'रिकार्ड रूम' बनने लगा। फिर सारी राजधानियों में प्रान्तीय और एक केन्द्रीय अभिलेखागार बने। आजादी के बाद दिल्ली में राष्ट्रीय अभिलेखागार बना जिसका कार्यक्षेत्र काफी बड़ा है: दस्तावेजों का संग्रह, उनकी सूची बनाना, विषयवार कोटि निर्धारण, उनको सुरक्षित रखने की प्राविधि विकसित करना, विशेषज्ञ तैयार करना और प्रदर्शनियों द्वारा इतिहास में रुचि और चेतना पैदा करना। अब तो राज्य ही नहीं कमिश्नरियों के स्तर पर भी अभिलेखागार बन गए हैं।

इनके अलावा लोगों के व्यक्तिगत पत्राचार, डायरियां आदि, प्राइवेट पेपर्स, अखबार, पत्र-पत्रिकाएं आदि भी इतिहास को ऐसे सुराग मुहैया करते हैं जो बड़ी-बड़ी

गुत्थियां सुलझा देते हैं। इनके साथ-साथ प्रासंगिक विषय पर औरों के शोध-पत्र तथा अधिकारी लेखकों की किताबें भी इतिहास के स्रोत बनते हैं।

इनमें प्रसंग के अनुरूप कोई स्रोत प्राथमिक और कोई भी गौण हो सकता है। प्राथमिक स्रोत वह होता है जो अध्ययन के विषय के बारे में आधिकारिक और आवश्यक तथ्य उपलब्ध करता है। इनके बिना कोई भी शोध विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। गौण स्रोत के बिना भी काम चल सकता है पर वे पूरक और विस्तारक तथ्य उपलब्ध कराते हैं। उदाहरण से बात और अधिक सपष्ट हो जाएगी। अगर हड़प्पा सभ्यता पर कोई शोध हो रहा है तो प्राथमिक स्रोत विभिन्न हड़प्पा सभ्यता केन्द्रों से प्राप्त सामग्रियों और उनके संबंध में आर्किओलाजिकल सर्वे आफ इंडिया की रिपोर्ट प्राथमिक स्रोत होंगे। इन पर अधिकारी इतिहासकारों की व्याख्याएं भी इसी कोटि में रखी जा सकती हैं। इस विषय पर गौण स्रोत उन्हें ही कहा जा सकता है जो कुछ इनके बारे में लिखा गया है शोध पत्रिकाओं और पुस्तकों में।

मध्यकालीन इतिहास में यदि कोई अकबर के काल पर शोध कर रहा है तो **अबुल फजल** की आइने-अकबरी और **बदायूंनी** की मुंतखब-उत-तवारीख और उस समय के यूरोपीय यात्रियों का वर्णन, उसके दरबार में लिखा गया साहित्य, उसके सिक्के, उसकी बनवाई इमारतें, उसके समय का पुरातत्व आदि प्राथमिक स्रोत बनेगा और अकबर पर हुए अब तक के शोध विषय से सम्बन्धित अन्य पुस्तकें यहां तक कि अकबर-बीरबल के किस्से, किंवदंतियां, अनारकली की गाथा आदि गौण या द्वितीयक स्रोत बनेंगे।

इसी तरह आधुनिक काल में स्वतंत्रता संग्राम संबंधी किसी विषय पर शोध के लिए उस समय का विषय संबंधी आधिकारिक लेखन, उस आंदोलन में शामिल लोगों का लेखन और मौखिक वक्तव्य, उस समय पत्र-पत्रिकाओं में हुआ लेखन आदि प्राथमिक स्रोत कहलाएगा और उस विषय से संबंधित अन्य पुस्तकें और लेखन तथा प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध न रहने वाले लोगों का मत आदि दूसरे स्तर का स्रोत माना जाएगा। यहां यह भी ध्यान रखने की जरूरत है कि शोध पद्धति और शोधकर्ता की कुशलता किसी भी प्राथमिक स्रोत को गौण तथा गौण को प्राथमिक की तरह रूपान्तरित कर सकता है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान बिहार में अमवारी सत्याग्रह का जिक्र **राहुल सांकृत्यायन** ने अपनी जीवन-यात्रा में किया है। वह हमने अपनी पत्रिका इतिहासबोध में छापा। राहुल की जीवन-यात्रा और इतिहासबोध में छपा लेख किसान आन्दोलन पर किसी भी शोध के लिए गौण स्रोत ही है पर इस बीच जापानी इतिहासकार **शो कुवाजीमा** ने इतिहासबोध पढ़ा और इजाजत लेकर

उस लेख का जापानी में अनुवाद किया। भारत आकर उस आंदोलन में शामिल लोगों से साक्षात्कार किया और उस आन्दोलन का ऐसा विश्लेषण किया कि राहुल का वह लेख प्राथमिक स्रोत जैसा बन गया। स्रोत के ही विषय में राहुल का यह मत अर्थवान है कि 'किसी घूरे पर पड़ा ठीकरा भी हो सकता है अपने समय की कोई दास्तान कह रहा हो।' सुनने वाले कान चाहिए अर्थात् स्रोत की गुणवत्ता के विषय में अंतिम निर्णय उसके उपयोग की गुणवत्ता से तय होता हैं।

इन स्रोतों से अपने विषय के अनुसार तथ्य चयन करना होता है। कोई भी तथ्य ऐतिहासिक तथ्य तब बनता है जब वह अन्य तथ्य से संदर्भित होकर किसी यथार्थ पर प्रकाश डाले। इसके लिए तथ्य का प्रामाणिक होना आवश्यक है। प्रामाणिकता के लिए सबसे स्वीकार्य पद्धति है यह देखना कि उस तथ्य के बारे में अन्य स्रोत क्या कहते हैं। अगर तथ्य कई स्रोतों से प्रमाणित होता है तो अधिक विश्वसनीय हो जाएगा। इन तथ्यों को इतिहासकार अपनी हाइपोथीसिस के रूबरू रखकर देखता है। वे उसकी परिकल्पना को पुष्ट कर सकते हैं, परिमार्जित कर सकते हैं, संशोधित कर सकते हैं या फिर नकार सकते है। शोधकर्ता यदि वस्तुनिष्ठ होना चाहता है तो अपने मत को तथ्यों पर आरोपित नहीं करेगा। अपने मत को प्रमाणित करने के लिए तथ्यों को तोड़ने-मोड़ने की कोशिश नहीं करेगा।

वस्तुनिष्ठता : तथ्य संग्रह मात्र शोध नहीं। तथ्यों को एक धारणा और अवधारणा में पिरोना होता है। इस तरह तथ्यों की एक व्याख्या करनी होती है। वैसे तो तथ्य संग्रह के दौरान ही शोधकर्ता का मत कारक बन जाता है और इस तरह मताग्रह का हस्तक्षेप होने लगता है पर व्याख्या तो पूरी तरह इतिहासकार के विश्वदर्शन और विचारधारा ही नहीं उसके आग्रहों, पूर्वाग्रहों-कभी-कभी दुराग्रहों, से प्रभावित होती है। ऐसा कि विख्यात विचारक रेमों आरों ने स्पष्ट किया है इतिहासकार एक ही साथ इतिहास का 'सब्जेक्ट और आब्जेक्ट' होता है यानी मनुष्य ही मनुष्य की कारगुजारियों का लेखा-जोखा करता होता है, उससे यह उम्मीद करना कि वह अपने विषय से उसी तरह की दूरी ले पाएगा जैसी कि प्राकृतिक विज्ञान में संभव है, इतिहास की प्रकृति को ही नकारना होगा। इसी तर्क को आगे बढ़ा कर कुछ विचारकों ने इतिहास को पूरी तरह कला सिद्ध करने का अतिरेक कर दिया है।

हम यहां स्पष्ट कर दें कि वस्तुनिष्ठता एक वांछित लक्ष्य है जो पूरी तरह शायद ही कहीं प्राप्य होता हो। प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी जितना गणित में वस्तुनिष्ठ हुआ जा सकता है उतना ही भौतिकी और रसायनशास्त्र में नहीं, जंतु-विज्ञान और वनस्पति विज्ञान में और भी कम। इसी तरह समाज विज्ञान के क्षेत्र में अर्थशास्त्र के

कुछ क्षेत्रों में सांख्यिकी का इतना प्रयोग संभव हो गया कि 'इकनोमेट्रिक्स' नाम की एक शाखा विकसित हो गई है जिसमें काफी हद तक वस्तुनिष्ठता संभव है। पर स्वयं अर्थशास्त्र का वैचारिक पक्ष यही दावा नहीं कर सकता। इसी तरह इतिहास में अर्थशास्त्र की अपेक्षा वस्तुगतता काफी कम संभव है पर स्वयं इतिहास में पुरातत्व की कुछ व्याख्याएं पूरी तरह वस्तुगत हो सकती हैं।

अगर इतिहास में वस्तुनिष्ठता पूरी तरह असंभव हो तो उसकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाएगी। आज भी इतिहास की दुखती रग यही है कि उसकी मनमानी व्याख्या होती रहती है और अपने निहित हितों के लिए लोग इतिहास के प्रति स्वेच्छाचारी व्यवहार करते रहते हैं- कभी-कभी तो संगठित तौर पर जैसे फासीवादी व्यवस्थाओं में।

हकीकत यह है कि इतिहास की वस्तुनिष्ठता के बारे में दो भ्रामक स्थितियां बनी हुई हैं। एक मासूम-सा तर्क सदियों से दिया जाता रहा है कि इतिहासकार जज होता है, वकील नहीं, यानी कि इतिहासकार को किसी की वकालत नहीं करनी चाहिए और दोनों पक्षों के तर्कों की रोशनी में निष्पक्ष फैसला करना चाहिए। इससे एक भ्रामक विचार यह बनता है कि जज निष्पक्ष होता है। वास्तव में वह दोनों पक्षों में से एक को सही मानकर पक्ष लेता है— यानी वह कानून या न्याय का पक्षधर होता है और ऐसा करने में उसकी अपनी विचारधारा, अपना विश्वदर्शन, आग्रह, वृत्ति-मनोवृत्ति की भूमिका होती है। दो, निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठता को पर्यायवाची की तरह इस्तेमाल किया जाता है। पूरी तरह पक्षधर होते हुए भी पूरी तरह वस्तुगत नहीं होते और खुलेआम पक्षधरता की बात करने वाले भी वस्तुगत हो सकते हैं। पक्षधरता का संबंध विचारधारा और सरोकारों से होता है और वस्तुगतता का पद्धति से। उदाहरण के लिए, अधिकांश दक्षिणपंथी निष्पक्षता और वस्तुगतता की बात करते हुए भी संकीर्ण हितों के लिए तथ्यों को तोड़ते-मरोड़ते-बढ़ाते-छिपाते हैं। दूसरी ओर एक सच्चा मार्क्सवादी मेहनतकश का हिमायती और सामंतवाद-पूंजीवाद का विरोधी होते हुए भी तथ्यों पर पर्दा नहीं डालेगा— जहां पूंजीवाद की भूमिका सकारात्मक थी जैसे फ्रांसीसी क्रांति में या भारत में उपनिवेशवाद-विरोध में, राष्ट्रवाद को संगठित करने में, वहां वह उसे चिह्नित करता है और भारत के मजदूर आंदोलन की सीमाओं को भी रेखांकित करता है।

इतिहास न तो जे. बी. बरी की उक्ति को सही साबित करता है: इतिहास विज्ञान है, न इससे कम न ज्यादा, न रान्के की महत्वाकांक्षा पूरी कर सकता है: अतीत की

वैसी ही पुनर्रचना की जानी चाहिए जैसा वह वास्तव में था। पर वह ऐसी टोपी भी नहीं हो सकता जिसे सभी पहन लें (**लास्की**/ने समाजवाद के बारे में कहा था कि वह ऐसी टोपी बना दिया गया है जो हर किसी के सिर पर फिट हो जाती है)।

अगर इतिहासकार अपनी विचारधारा, इतिहासदृष्टि और पद्धति घोषित कर दे, यथासंभव अपने पूर्वाग्रहों पर अंकुश रखते हुए तथ्य संग्रह से व्याख्या तक किसी स्तर पर छल न करें, इतिहास लिखते समय किसी का भोंपू (हिज मास्टर्स वॉयस) न बने— विचारधारा का, न पार्टी का, न निहित स्वार्थ का, तो वह एक सीमा तक वस्तुगत बना रहा सकता है। उससे अधिक की इतिहास से अपेक्षा करना वैसा ही होगा जैसे पानी से भूख मिटाने की अपेक्षा करना — पानी प्यास तो मिटा सकता है भूख नहीं।

इतिहास अपनी प्रस्तुति में तो कला ही हो जाता है क्योंकि जिस अतीत की पुनर्रचना करनी होती है उसके लिए सृजनशीलता अनिवार्य है। इसमें भाषा-शैली की बेहद महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसीलिए इतिहासकारों को रचनाकार की तरह भी याद किया जाता है। **कार्लाइल, मैकाले, गिबन** और अपने देश में भी **जवाहरलाल नेहरू, भगवतशरण उपाध्याय** और **जदुनाथ सरकार** आदि साहित्यकार की तरह भी माने जाते रहे हैं।

प्रारम्भिक शोधकर्त्ताओं की एक हद तक शोध निर्देशक भी मदद कर सकते हैं पर एक हद तक ही। अगर कोई शोधकर्त्ता निर्देशक पर निर्भर होना चाहेगा या निर्देशक उसे कठपुतली बनाना चाहेगा तो अनर्थ ही होगा। यह स्पष्ट होना चाहिए कि अन्ततोगत्वा हर सही शोधकर्त्ता अपने विषय का अपने निर्देशक से अच्छा जानकार हो जाता है। ऐसा नहीं होता तो भी कहीं न कहीं खोट होती है। निर्देशक बस इतना ही कर सकता है कि प्रारम्भिक दिनों में वह शोधकर्त्ता की ग्रंथसूची बनवाने में मदद कर सकता है। ग्रंथसूची से ही शोध शुरू होता है क्योंकि विषय प्रवेश के लिए पहले उस विषय या संबंधित क्षेत्र पर हुए अब तक के काम से परिचित होने पर ही एक 'हाइपोथीसिस' विकसित हो सकती है। अन्त में भी प्राथमिक और अन्य स्रोतों की एक ग्रंथसूची बनाना आवश्यक होती है ताकि शोध प्रामाणिक लगे। अक्सर विद्वान लोग शोध का शीर्षक पढ़ने के बाद ग्रंथसूची ही पढ़ते हैं। इसमें भी निर्देशक देख सकता है कि कोई आवश्यक चीज छूट तो नहीं गई या कुछ अनावश्यक तो नहीं ले लिया गया है।

एक अच्छा और सही निर्देशक बीच-बीच में शोध पर विचार-विमर्श कर भटकावों से बचा सकता है, उत्प्रेरित कर सकता है और शोध पद्धति को परिष्कृत कर

सकता है। ऐसा तभी संभव है जब निर्देशक स्वयं एक अच्छा शोधकर्त्ता हो। पर अक्सर होता यह है कि अच्छा शोधकर्त्ता अपनी शोधशैली विकसित कर लेता है और निर्देशक एक शोभा मात्र बनकर रह जाता है।

अंततः इतिहास लेखन इतिहास रचने से कम कठिन और दायित्वपूर्ण नहीं होता। इतिहासकार को विज्ञान की वस्तुनिष्ठता और कला की रचनात्मकता दोनों बनाए रखना पड़ता है और वह लगातार विश्वसनीयता की कसौटी पर कसा जाता है। इतिहासकार को जासूस, वैज्ञानिक, फील्ड वर्कर/शोधकर्त्ता, साहित्यकार और सबसे अधिक अपने कृतित्व की अर्थवत्ता में अटूट विश्वास रखने वाला होना होता है। इसके लिए प्रथम कोटि की कुशलता ही नहीं बुद्धिमत्ता भी आवश्यक है।

4. इतिहास की आम समस्याएं

समस्याओं का होना कोई बुरी बात नहीं, अगर हम उनसे जूझने को तैयार हों। हां, यह शुरू में ही स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अधिकांश समस्याएं व्यवस्था के स्वरूप में निहित हैं और उसमें आमूल परितर्वन होने पर ही सुलझ सकती हैं। उसके लिए भी समस्याओं के स्वरूप और समाधान की दिशा के बारे में स्पष्टता और जागरूकता आवश्यक है।

आइए, इतिहास की दुनिया की झटपट सैर करें। तीन तरह के लोग मिलेंगे—वे जिनके लिए कोई समस्या है ही नहीं, वे जो यह तो मानेंगे कि समस्या है पर इसे हल करने में असहायता प्रकट करेंगे, मुख्यतः इसलिए कि ढर्रा बदलने में कुछ दायित्व उठाना पड़ेगा और अंततः वे जो समस्या को समझने और निदान के लिए तत्पर होंगे। तीसरे तरह के ही लोग कुछ कर सकते हैं पर बिना औरों को समेटे नहीं।

अधिकांश संस्थाओं में आज भी लीक पीटी जाती है। विषय-वस्तु वही, वही तरीके। बल्कि शिक्षकों के ह्रास के कारण स्थिति बदतर हुई है। ऐसी संस्थाओं में इतिहास न तो ज्ञान है न बुद्धिमता—न ही स्वस्थ मनोरंजन। वहां इतिहास न तो व्यवहार में उपयोगी जान पड़ता है न जीवन के महत्तर मूल्यों के संदर्भ में। वहां इतिहास का पठन-पाठन उतना ही जीवनहीन लगता है जितना वह अतीत जिसका कोई अध्ययन करता है।

वास्तव में न तो अतीत जीवनहीन होता है न इतिहास। उन्हें लेकर समस्याएं तो हैं पर अजेय नहीं। उन पर हमला तो हो! आइए उन्हें टटोलें।

इतिहास की प्रकृति और क्षेत्र : समस्या की शुरुआत यहीं से होती है। सभी विषयों की अपनी प्रकृति होती है—विषयों के बढ़ते परस्परावलम्बन के बावजूद। बहरहाल, इतिहास के संदर्भ में यह विवादास्पद बना हुआ है। आज भी इतिहास कब्रिस्तान की ओर ले जाता है या वस्तुपरकता संभव है—या, इसी तरह की बातें विवाद का विषय बनी हुई हैं। आज भी ऐसे लोग हैं जो इतिहास को राजनीति का सेवक करार देते हैं तो दूसरी ओर उसे पूरी तरह 'विज्ञान' सिद्ध करने पर आमादा लोग भी हैं। आज भी लोगों को यह स्वीकार करने में कठिनाई है कि इतिहास की प्रकृति में ही निहित है कि वह विज्ञान और कला दोनों को स्वीकारे और उनका समन्वय करे।

इतिहास मानव-समाज का, उसमें परिवर्तन की गतिकी का अध्ययन करता है। अतीत में यह क्षेत्र प्रागैतिहासिक काल तक फैलता जा रहा है तो दूसरी ओर वर्तमान को भी छूने लगा हैं—साम्प्रतिक इतिहास की अवधारणा के साथ। इतिहास समाज के द्वन्द्वों, परिचालक शक्तियों, उनके बीच के संघर्षों, विकास की दिशा आदि का अध्ययन करता हुआ समाज का सर्वांगीण अध्ययन करता है, कुछ भी अछूता नहीं बचता। विशेष को रेखांकित करता हुआ भी सार्वभौम और सार्वकालिक परिप्रेक्ष्य रखता है।

इतिहास अतीत का अध्ययन करता है, उस अतीत का जो सौ-सौ पर्दों में छिपा बैठा होता है—तरह-तरह के दस्तावेजों, पुरातत्व और विभिन्न परम्पराओं के पर्दों में। एक साथ सूक्ष्म और व्यापक दृष्टियों के सहारे इतिहासकार अतीत का अनावरण करता है, एक तरह से पुनर्निर्माण, पर वह स्वयं कोई 'रोबोट' (यंत्र मानव) तो होता नहीं। उसका अपना एक जीवंत संसार होता है, अपनी रुचियां, प्रवृत्तियां, अवधारणाएं। उनको लिए हुए वह अतीत के तथ्यों के साथ मनमानी नहीं कर सकता—न ही अतीत के तथ्य बिना इतिहासकार के माध्यम से स्वयं संवाद करने में पूरी तरह समर्थ होते हैं। ऐसे में अतीत और वर्तमान में, अतीत की वस्तुगत अस्मिता और इतिहासकार द्वारा उसकी आत्मगत ग्राह्यता के बीच, खेल के नियमों और खिलाड़ी के कौशल के बीच, द्वन्द्वात्मक और गतिशील संबंध विकसित होते रहते हैं। इसी से जन्मी है इतिहास की आज की अवधारणा और पद्धति। इसके अहसास की कमी समस्या की शुरुआत है।

वस्तुगत समस्याएं –

पाठ्यक्रम : क्या होता है पाठ्यक्रम? आवश्यकता, मांग, स्तर, क्षमता आदि से उसका कोई सरोकार होता है या नहीं? विभिन्न पाठ्यक्रमों को देखने पर ऐसा लगता है कि मूलतः वे नकल पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम स्तरीय लगने चाहिए—वास्तविकता से उनका संबंध हो या नहीं। अधिकांशतः शिक्षक भी बस मोटा-मोटी जानते हैं उसके बारे में—विद्यार्थी तो और कम। जहां तक पाठ्यक्रम की सामाजिक-प्रासंगिकता का संबंध है इस पर सबसे कम विचार होता है। इस तरह पाठ्यक्रम पाखंड के परिचायक होते हैं। समानता का ढोंग रचने से अच्छा है असमानता की वास्तविकता को स्वीकार कर समानता के लिए संघर्ष करना।

इस देश में पहली बार पाठ्यक्रम एक सामाजिक मुद्दा बनकर मीडिया के केन्द्र में भी आता दिखता है। इसका श्रेय एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा पैदा किए गए विवाद को जाता है। वास्तव में पाठ्यक्रम—किसी भी विषय का, एक परमावश्यक समाजशास्त्रीय

और राजनीतिक मुद्दा होता है। उसका परिप्रेक्ष्य हो सकता है एक स्तर के विद्यार्थी को उसके लिए जरूरी और प्रासंगिक इतिहास के मुद्दों की समझ पैदा करे ताकि वह अपने वर्तमान से बेहतर जुड़ाव महसूस करे।

पठन सामग्री : किसी भी संस्था में उपलब्ध पठन सामग्री 'यथार्थ' और 'आदर्श' को सामने रखकर जुटाई जानी चाहिए। विद्यार्थियों तक पहुंचकर ही उन्हें उठाया जा सकता है। ऐसे में अच्छी पाठ्यपुस्तकें उतनी ही जरूरी हैं जितने संदर्भ-ग्रंथ। जहां तक पाठ्यपुस्तकों का प्रश्न है 'अधिकांश विद्वान' उन्हें लिखने में अपनी हेच समझते हैं, भारतीय भाषाओं में लिखने में तो और भी। भारतीय भाषाओं में लिखी स्तरीय सामग्री भी अंग्रेजी में लिखी सामान्य चीज के भी सामने कूड़ा समझी जाती है। और फिर तथाकथित 'अकादमिक उपलब्धियों' में पाठ्य पुस्तक लिखना शामिल नहीं किया जाता है। विशिष्टों के इस दुष्चक्र को तोड़ना ही होगा। अंत में, पढ़ना एक विज्ञान और कला है—आज तो और भी। क्या पढ़ें और कैसे यह भी पढ़ाने का एक अंग है। पर उसके लिए तो शिक्षकों को ही सबसे पहले पढ़ना होगा—सोचते-समझते हुए अललटप्पू नहीं। भारतीय भाषाओं में स्तरीय और रोचक पाठ्य पुस्तकें तैयार करना आज शिक्षकों और विश्वविद्यालयों के सामने प्राथमिक चुनौती है।

शिक्षण सामग्री : जाहिर है कि शिक्षण का सबसे निर्णायक उपकरण शिक्षक ही होता है, आज के कम्प्यूटरी काल में भी। पर अन्य उपकरण भी उपयोगी होते हैं। आज तो 'चॉक' इस्तेमाल करने वालों की भी बिरादरी घटती जा रही है, अन्यों की तो बात ही और है। बिना नक्शों और चार्टों की इतिहास कक्षा वैसी ही होगी जैसे बिना घड़े या बाल्टी के कुआं। कुछ नक्शे और चार्ट तो उपलब्ध होते हैं कुछ बनाए जा सकते हैं, रचनात्मक कल्पनाशीलता के आधार पर। ऐतिहासिक स्थानों, संग्रहालयों, अभिलेखागारों आदि तक की यात्रा इतिहास के अध्यापन के लिए अनिवार्य है। आधुनिक उपकरण जैसे विविध आडियो-विजुअल उपकरण आदि बेहद उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इस श्रेणीबद्ध व्यवस्था में सारे उपकरण सभी को उपलब्ध नहीं हो सकते पर उपकरणों का महत्व समझने पर ही उन्हें जुटाने का प्रयास सफल होगा। नहीं तो देखा जा सकता है की ऊंघते विद्यार्थियों को कुर्सी में धंसा ऊंघता-सा शिक्षक लड़ाइयों के 'किस्से' सुनाता मिलता है, वह भी दादी अम्मा जैसा नहीं।

शोध : भारत में अधिकतर शोध एक बोझ रहता है, एक मजबूरी—नौकरी के लिए, तरक्की के लिए या फिर 'दौड़ में शामिल' के प्रमाण के रूप में। परिणाम जग जाहिर है—किताबों से पांडुलिपियां और पांडुलिपियों से किताबों की आंखमिचौली।

अगर शोध का अर्थ है अज्ञात की खोज और ज्ञात की नई व्याख्या तो शोध पठन-पाठन का अविभाज्य और अनवरत अंग है। पर वास्तव में शोध तो शिक्षा से भी अधिक असंगठित ओर व्यावसायिक हो गया है।

इस स्थिति से निपटने के लिए आवश्यक है शोधार्थी को शिक्षक की गुलामी से मुक्त किया जाए। अधिकांश शोधकर्त्ता अपने गाइड के बंधुआ मजदूर होकर रह जाते हैं। यह घातक व्यवस्था विद्यार्थी को पनपने ही नहीं देती। गाइड जब तक बिना कुछ थोपे और बिना नाजायज फायदे उठाए विद्यार्थी में पहल, रुचि, जिज्ञासा, अनुशासन और आशावादी संचार नहीं करता, सही अर्थों में शोध हो ही नहीं सकता। पहले की अपेक्षा सुविधाएं बढ़ी हैं पर स्तर घटा है। यह विडंबना दूर की जा सकती है।

काल विभाजन : यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि इतिहास मानव-समाज का ही हो सकता है। देश और काल के हिसाब से विभाजन विचारजन्य नहीं पद्धतिजन्य है और होना चाहिए। प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन के निर्धारण का आधार क्या है—कुछ मूल्य, संस्थाएं या उपकरण? कोई ऐसा निर्धारक है क्या जो सभी स्थितियों में लागू हो सके? यूरोप का मॉडल भारत पर लागू नहीं होता क्योंकि भारत में प्राचीन काल पांचवीं में और मध्यकाल पंद्रहवीं में समाप्त नहीं होता। इस प्रकार भारत का मॉडल भारत के ही कुछ राज्यों जैसे मणिपुर पर लागू नहीं होगा क्योंकि वहां प्राचीन काल सोलहवीं शताब्दी तक चलता दिखाई पड़ता है। नागालैंड और मिजोरम जैसे राज्यों में यह निर्धारण और कठिन होगा। विभिन्न कालों में अध्ययन की अपनी पूर्व शर्तें हैं, विशिष्टताएं हैं जिनके प्रति सचेत हुए बिना न्याय नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारत के इतिहास में स्रोतों की कमी या साहित्यिक स्रोतों पर ही अधिकांशतः निर्भरता की सीमा है, तो आधुनिक भारत के इतिहास में एक ओर स्रोतों की प्रचुरता और दूसरी ओर जनस्रोतों के उपयोग न किए जाने की और अधिकांश अंग्रेजी में उपलब्ध स्रोतों पर ही निर्भरता की सीमा है। इस प्रकार कालबोध के बिना प्राचीन को आधुनिक और आधुनिक को प्राचीन दृष्टि से देखने के दुष्परिणाम सामने आते रहे हैं। यह अनिवार्य है कि किसी व्यक्ति, समस्या या परिघटना का मूल्यांकन उसे देश-काल में स्थिति करके ही किया जाए तभी उसका ऐतिहासिक महत्व होगा।

इस प्रकार इतिहास के प्रति एक समेकित पहुंच ही सही परिप्रेक्ष्य दे सकती है। इतिहास का 'क्या' और 'क्यों' और 'कैसे' हर स्तर पर, स्तर के अनुकूल ढंग से स्पष्ट होना चाहिए—प्रारंभिक से उच्च शिक्षा तक पाठ्यक्रम बनाने में भी समेकित

पहुंच और दृष्टि ही न्याय कर सकती है। इसी तरह श्रेणीबद्ध समाज की श्रेणीबद्धता हर स्तर पर टूटे, विशेषकर शिक्षकों के स्तर पर तभी इतिहास के 'कारोबार' में सबकी उचित साझेदारी हो सकती है।

आत्मगत समस्याएं –

वस्तुगत समस्याएं आंखों में घूरती हैं पर आत्मगत समस्याएं दिखती नहीं पर अधिक गंभीर हैं। वस्तुगत समस्याओं का निदान धन और सुव्यवस्था में ढूंढ़ा जा सकता है और आत्मगत समस्याएं, मूलतः व्यवस्था में निहित होते हुए भी, अधिक सचेतनता और सरोकार से एक हद तक हल की जा सकती है।

1) **शिक्षक :** इतिहास के शिक्षक ज्यादातर एहसासे कमतरी (इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स) से पीड़ित होते हैं। कारण साधारण-सा है, अपने 'पेशे' अपने काम के महत्व को न समझना। 'फायदा' ही जिस समाज की निर्णायक उत्प्रेरक शक्ति हो वहां अतीत का अध्ययन, जिससे तात्कालिक लाभ न दिखाई पड़ता हो, कैसे महत्वपूर्ण हो सकता है? जिस विषय के शिक्षक को ट्यूशन न मिले भला वह कैसे सीना तानकर चले?

इसके लिए जरूरी है कि इतिहास के शिक्षक को विश्वास हो कि अतीत वर्तमान में जीवित है और इतिहास का विषय मृत्यु नहीं जीवन है। जैसे विज्ञान बोध के बिना विज्ञान का शिक्षक एक यंत्र मात्र होता है उसी प्रकार इतिहासबोध के बिना इतिहास का शिक्षक एक किस्सागो बनकर रहा जाता है। जिस शिक्षक में स्वयं यह बोध होगा वही इस लक्ष्य के लिए अपने विद्यार्थियों को शिक्षा देगा। वैसे तो सही अर्थों में हर शिक्षक के लिए यह पूर्वशर्त है कि वह जागरूक, आशावान, संपृक्त, प्रतिबद्ध और रचनात्मक हो. पर इतिहास का शिक्षक यदि रचनाशील नहीं है, उसके सामाजिक सरोकार नहीं हैं, तो वह न्याय तो नहीं कर सकता, उल्टे अन्याय करता है। जिसका वर्तमान से सरोकार न हो उसका अतीत से क्या खाक सरोकार होगा? इसलिए इतिहास का शिक्षक वर्तमान और अतीत के प्रति सरोकारों के बीच रचनात्मक संतुलन बना कर रखे।

विद्यार्थी : जो बात शिक्षकों पर लागू होती है वही विद्यार्थियों के लिए भी कमोबेश ठीक है। उन्हें एहसास होना चाहिए कि इतिहास का अध्ययन संस्कार और संतुलन के लिए परमावश्यक है और उनके लिए यह सुखद संयोग और सुयोग है कि वे इतिहास के विद्यार्थी हैं। जिस 'कोकून' में आज व्यक्ति बंद होता जा रहा है उससे निकलने का एक महत्वपूर्ण साधन इतिहास का अध्ययन है।

यह सच है कि परिस्थिति और व्यवस्थाजन्य बहुत-सी सीमाएं हैं—विशेषकर सामान्य विद्यार्थी के लिए पर इस स्थिति को बदलने के लिए भी जरूरी है कि जो भी उपलब्ध है उसका भरपूर फायदा उठाया जाए। इतिहास को 'बेवफा' न समझा जाए। इतिहास तो फितरतन बावफा है। उससे वफा की जाए तो जिंदगी संवरत है।

जनता : सामान्य लोगों का इतिहास के प्रति दृष्टिकोण बहुत रूमानी होता है। यह सच है कि अनुपस्थिति के प्रति आदमी सहज ही रूमानी हो जाता है पर रूमान एक ही पक्ष है, साहित्य, कला की तरह इतिहास का भी।

व्यक्ति समाज में जीता है और समाज इतिहास में। इसलिए व्यक्ति और समाज का अतीत के प्रति नैसर्गिक लगाव होता है। लेकिन इतिहास एक सायास, सजग और दिशोन्मुख प्रयास की उपज है। इसलिए अतीत के प्रति लगाव और इतिहासबोध में अंतर करते हुए अपने को इतिहासबोध से समृद्ध करने की आवश्यकता होती है। वर्तमान को व्यक्ति और इतिहास दोनों ही गढ़ते हैं, साथ ही स्वयं व्यक्ति भी इतिहास द्वारा गढ़ा हुआ होता है। इसलिए व्यक्ति को सचेत रूप से इतिहास को जानना, समझना और रचना चाहिए।

वैसे भी व्यक्ति का संस्कार समाज के सापेक्ष ही होता है, अगर यह जरूरी है तो नए परिप्रेक्ष्य और दिशाबोध के लिए शिक्षण-प्रशिक्षण के अलावा जन को लामबंद करने के लिए एक तरह के जनआंदोलन की जरूरत है जिसमें कला और विज्ञान की अनौपचारिक शिक्षा की निर्णायक भूमिका हो सकती है इसके लिए विद्यार्थियों को ही नहीं उनके अभिभावकों को भी संबोधित करना होगा।

इस प्रकार इतिहास को लेकर जितनी समस्याएं दिखाई पड़ती हैं उनमें से अधिकांश का स्रोत इतिहास के प्रति, विशेषकर इतिहास के शिक्षकों में, सरोकार की कमी है। शिक्षकों में इस अहसास का अभाव है कि इतिहास समाज को समझने और बदलने का एक अनिवार्य उपकरण है।

व्यक्ति और समाज स्वयं को या तो अंतरमंथन के माध्यम से समझते हैं या सिंहावलोकन के माध्यम से। सिंहावलोकन इतिहास की परीक्षित पद्धति है और अंतरमंथन भी वैज्ञानिक तभी होता है जब ऐतिहासिक पद्धति से किया जाय। व्यक्ति को भी समाज के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। अगर किसी को सचेत रूप से सामाजिक परिवर्तन में रचनात्मक हस्तक्षेप करना है—किसी वांछित दिशा में समाज को ले जाना है तो विभिन्न पहलुओं, शक्तियों, अंतर्विरोधों, मूल्यों, संस्थाओं और उन्हें गति देने वाले कारकों को समझना होता है। तभी सार्थक, सोद्देश्य और दिशान्मुख प्रयास हो सकता है। प्रकृति को भी आदमी ने पहले समझा है तभी

एक हद तक उसका वांछित प्रयोग कर सकता है, जरूरत के मुताबिक उसे बदलते हुए। इसी अर्थ में इतिहास समाज को समझने और बदलने का उपकरण है।

कुछ लोगों को ये बातें हवाई लग सकती हैं पर जो समाज का सचेत साक्षात्कार कर रहे हैं, जिन्हें सरोकार है और जो समाज की वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हैं उन्हें 'है' और 'होना चाहिए' के बीच के अंतर और एक से दूसरे तक की यात्रा के महत्व और उसमें निहित कठिनाइयों का अहसास होगा। इसलिए वे इतिहास संबंधी समस्याओं को समझना चाहेंगे, ताकि उनका हल ढूंढ़ा जा सके, क्योंकि इतिहास की समस्याओं को समझने और उन्हें हल करने का सवाल स्वयं समाज को समझने और बदलने के सवाल से जुड़ा हुआ है।

5. भारत में इतिहास

प्रायः यह कहा जाता है कि भारतीयों में इतिहासबोध बिल्कुल नहीं होता। वे लोग भी जो दुनिया की हर चीज का स्रोत भारत में ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं, इस दिशा में आगे बढ़ कर नहीं बोल पाते। अपने को खुले आम राष्ट्रवादी इतिहासकार कहने वाले **आर. सी. मजुमदार** भी मजबूर हो स्वीकारते हैं कि 'उन तत्वों का, जिनके कारण इतिहास को मानव-विज्ञान की प्रतिष्ठा मिली है, भारत में अभाव रहा है।'

क्या यह सच है? यदि हां, तो क्यों?

वायु पुराण में कहा गया है— केवल वेद और उपनिषद में पारंगत व्यक्ति को अपने अपूर्ण ज्ञान को पुराणों के अध्ययन से पूरा करना चाहिए—इतिहास जानना चाहिए। **कौटिल्य** ने भी कहा है कि शासकों को अपराह्न में इतिहास सुनना चाहिए। इस प्रकार इतिहास को 'तथ्य की कहानी' के रूप में माना जाता था। पर पुराण, इतिहास, आख्यान और उपाख्यान के बीच की रेखा कभी स्पष्ट नहीं रही। बहुत पहले पुराणों के विख्यात अध्येता पार्जिटर ने प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की बात उठाई थी और वेदों तथा पुराणों में इतिहास निरूपण को स्पष्ट किया था। पर ब्राह्मणीय परंपरा की कृतियां रेखांकित करने के साथ उसने यह भी बताया था कि पुराणों तक में तथ्य और गल्प की खिचड़ी पकी है। उसका यह मत उपयुक्त लगता है कि प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक परंपरा को न तो एकदम नजरअंदाज किया जाना चाहिए न सतही तौर पर उसे सही सिद्ध करने का प्रयास होना चाहिए।

वैसे तो यह निर्विवाद लगेगा कि भारत जैसे देश में जहां जीवन लोकेतर दर्शन से ग्रस्त रहा है, जहां इस जीवन को 'जीवन-क्रम' की एक कड़ी मात्र समझा जाता हो, वहां लौकिक जीवन का ही लेखा-जोखा रखने वाले इतिहास के प्रति चेतना का अभाव होगा ही। लेकिन दूसरी ओर उसी भारत में मनुष्य के सभी कार्य, वे भी जिन्हें वह अनजाने में करता है, महत्वपूर्ण माने गए हैं। ऐसे विश्वास के अनुसार अनायास कर्मों का भी फल भोगना पड़ता है। जहां मनुष्य के कामों का इतना महत्व हो वहां इतिहास के प्रति कुछ तो सजगता होनी चाहिए थी। पूर्व जन्म की बात को इतिहास के अमूर्तन के रूप में देखना क्या दूर की गोटी होगी?

क्या वजह है कि हेरोदोतस की जन्मभूमि यूनान के संपर्क में आने के बाद भी भारत में इतिहासलेखन की परंपरा शुरू नहीं हुई ?

इसका कारण भारतीयों की तटस्थता, निरपेक्षता, पलायनवादिता या बौद्धिक कार्यों से कोताही तो नहीं ही हो सकता। यह भी सच नहीं है कि भारतीय अतीत के प्रति उदासीन रहे हों। भारतीय सदा से अपने अतीत के प्रति आकर्षित रहे हैं, उससे प्रेरणा लेते रहे हैं, और परंपराओं मे उसे जीवित भी रखते हैं। इस देश में जहां मनुष्य दैवी शक्तियों और ईश्वर के हाथों की कठपुतली माना गया है और प्रकृति तथा संसार के सारे घटनाक्रम को 'ईश्वर की लीला' बताया गया है वहीं मानव-कर्म की प्रतिष्ठा भी रही है। तब इतिहासलेखन और दर्शन के प्रति उनकी सजगता का कल्हण के पहले कोई प्रमाण क्यों नहीं मिलता?

क्या इसके मूल में वह काल दर्शन था जिसमें एक संक्षिप्त काल कोई महत्व नहीं रखता। इतिहास में हर घटना की अस्मिता होती है लेकिन भारतीय कालदर्शन में किसी एक घटना का कोई महत्व नहीं हो सकता था। काल की चक्राकार अभिधारणा में, जहां सत्ययुग की पराकाष्ठा के बाद संसार निरन्तर पतनोन्मुख है, प्रगति की बात कैसे होती?

शासकों द्वारा प्रचारित मिथक, आध्यात्म और शाश्वत के प्रति लगाव और अस्थायी, परिवर्तनशील तथा ऐन्द्रिक वस्तुओं में अरुचि और अनास्था का प्रचार भी इतिहास के लिए उपयुक्त जमीन नहीं बनाते। इतिहास का आधार क्रमबद्ध घटनाएं ही हो सकती हैं। भारतवर्ष में लौकिक घटनाक्रम को महत्व देना यथार्थवादी होना था और भारतीय दर्शन का आरोपित और स्वीकृत बहुलांश आदर्शवादी था। भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण पर दलित परंपरा लोकायत वस्तुजगत को महत्व देती थी। जो भी इंद्रियजन्य नहीं है वह इस चिंतनधारा को अस्वीकार्य था। यहां भौतिक जगत की प्रतिष्ठापना और फलस्वरूप इतिहास के सूत्रपात की संभावना थी। पर चार्वाक के सिद्धांतों को महज 'ऋण लेकर घी पीने' की बात तक सीमित कर दिया गया और सुनियोजित तथा व्यापक षड्यंत्र के द्वारा भारतीय चिंतन परंपरा के भौतिकवादी पक्ष को बदनाम और धूमिल करके लुप्तप्राय कर दिया गया।

धर्म के कर्मकांडी रूप का अतिशय प्रभाव 'लोकोत्तर' को जनजीवन पर हावी रखने में लिप्त था। इसीलिए पुराण भी इतिहास नहीं बन पाए जबकि उनमें ऐसी भरपूर संभावना थी। वे नीति, धर्म और दर्शन आदि के स्रोत तो बने पर इतिहास के नहीं। ऐसा क्यों हुआ यह विचारणीय प्रश्न है। उस काल में वैसी विद्वता का महत्व

नहीं था जो इतिहास लेखन के लिए आवश्यक होती है। उस समय ज्ञान की प्रतिष्ठा नीति और धर्म तक सीमित थी।

सनातन धर्म की बात करने वाले देश में निरंतर होते परिवर्तनों, जिनका इतिहास साक्षी और प्रवक्ता होता है, को कैसे उपयुक्त महत्व दिया जाता? काल संदर्भ में परिवर्तन और प्रगति में विश्वास लौकिक जीवन की महत्ता, घटनाओं की अस्मिता आदि इतिहास के स्वरूप के मूल आधार हैं। इनका भारत में अभाव था। इन्हें गौण समझा जाता था।

भारतीय वांग्मय में ऐसे अनेक शब्दों का प्रचलन था जिनके अर्थों को जोड़कर इतिहास का आधुनिक अर्थ बन जाता है। 'इतिहास' के अतिरिक्त निम्नलिखित शब्द भी मिलते हैं, पुराण से अतीत का, इतिवृत्ति से घटनाओं का, आख्यायिका से इहलोक और परलोक के आख्यानों का बोध होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और महाभारत जैसे ग्रंथों में इतिहास के तत्व मिलते हैं। जैन ग्रंथों में इतिहास को गाथाओं से भिन्न 'जो वास्तव में घटा हो' कहा गया है। इस अवधारणा में उन्नीसवीं शताब्दी के महान जर्मन इतिहासकार /रान्के/ का पूर्वाभास है। स्वयं इतिहास शब्द का शब्दिक अर्थ वही है जो आधुनिक काल में इतिहास से समझा जाता है।

इतना कुछ होते हुए भी अतीत का कोई ऐसा ग्रंथ नहीं उपलब्ध हुआ है जिसमें भारत के दर्शन-प्रवृत्त मनीषियों ने इस दिशा में भी कुछ विस्तार और सुनियोजित ढंग से सोचा-विचारा हो। न ही कोई ऐसा ग्रंथ ही मिलता है, 'राजतरंगिणी' के पहले, जिसे आधुनिक अर्थों में इतिहास ग्रंथ की संज्ञा दी जा सके।इसलिए प्राचीन भारत में इतिहास का सैद्धांतिक निरूपण भले ही थोड़ा-बहुत हुआ हो पर इतिहास की कोई पुस्तक नहीं मिलती। उसी तरह, जैसे वैज्ञानिक सिद्धांतों का निरूपण तो मिलता है पर तदनुकूल मूर्त विज्ञान नहीं। यदि रूसी विचारक **बरदिएफ** की तरह कोई इतिहास को मिथक की संज्ञा दे दे तब तो भारत में प्राचीनकाल से ही इतिहास उपलब्ध होने लगेंगे।

भारतवर्ष के वे क्षेत्र जो मुख्य राजनीतिक धारा से अलग-थलग पड़ गए थे, जैसे सिंध, सुदूर-पूर्व और दक्षिण, वहां शायद इतिवृत्त लिखा जाता रहा हो। **ह्वेन स्यांग** लिखता है कि लोग घटनाक्रम को — वह अच्छा हो या बुरा, लिखते थे। पर हमें वह उपलब्ध नहीं है।

बारहवीं शताब्दी में कल्हण ने 'राजतरंगिणी' नामक इतिहास लिखा। पुस्तक के आठ भागों में से पहले तीन का आधार वे परम्पराएं हैं जो कश्मीर में मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही थीं। दूसरे और तीन भागों का आधार पहले लिखे गए इतिवृत्त हैं। केवल अंतिम दो भाग कल्हण की व्यक्तिगत जानकारी एवं तत्कालीन

साक्ष्यों पर आधारित हैं। उसने अपने पूर्ववर्ती ग्रंथों का अध्ययन किया था और यथाशक्ति कश्मीर के अतीत का चित्र प्रस्तुत करना चाहा था। पर कल्हण ने स्वयं लिखा है कि राजतरंगिणी लिखते समय निम्नलिखित उद्देश्य थेः पुराने राजवंशों की जानकारी देना, पाठकों का मनोरंजन करना और अतीत से शिक्षा लेना। लेकिन जैसा कि इतिहासकार **बैशम** का मत है, कल्हण ने नैतिकता की बातें अधिक की हैं, तथ्यों के आपसी संबंधों की कम। फिर भी राजतरंगिणी को प्रारंभिक इतिहास ग्रंथ की तरह स्वीकारा जा सकता है। पर यह विचारणीय है कि उसके पहले भी इस तरह के प्रयास अवश्य हुए होंगे जो अनुपलब्ध हैं।

यह धारणा अधिक उपयुक्त लगती है कि 'पूरब' में, यानी चीन और भारत जैसे देशों में, अतीत को देखने का नज़रिया ही भिन्न रहा और यहां गाथाओं, मिथकों और आख्यानों में सपष्ट अंतर नहीं किया गया। दूसरे, यह भी माना जा सकता है कि इतिहास की लौकिक धारा को भी दर्शन की भौतिकवादी धारा की तरह ब्राह्मणवादी श्रेणीबद्धता की परंपरा में तिरस्कृत किया गया हो और वैसे ग्रंथों को नष्ट किया गया हो। बहरहाल इस संबंध में और अधिक शोध की आवश्यकता है।

उत्तर भारत के बहुत बड़े हिस्से पर जब सल्तनत कायम हो गई तो दरबारों में इतिहासलेखन शुरू हुआ। अरबों ने कुरान और हदीस की वास्तविकता को स्थापित करने का काम इतिहासकारों को सौंपा था। इसलिए सातवीं शताब्दी से ही मुस्लिम इतिहासकारों से इतिहासलेखन की परम्परा भारतीय इतिहासकारों को प्रेरणा और विरासत के रूप में मिलने लगी। इतिहास के बारे में इस्लामी जगत में अरबी और फारसी दो दृष्टिकोण थे। अरबी अधिक वैज्ञानिक था पर भारत में प्रचलित हुआ फारसी जो कमजोर और दरबारी था। इसलिए ग्यारहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक लिखे गए, **मिनहाज-उस-सिराज, जियाउद्दीन बरनी, बदायूंनी, अबुल फजल, खाफी खां** और **फिरिश्ता** आदि के ग्रंथों में राजा, दरबार, युद्धों और षड्यंत्रों का ज्यादा जिक्र हुआ है। किंवदंतियों, प्रशस्तियों, अफवाहों और इतिहास की खिचड़ी पक जाती है, पर इन्हीं के सहारे यदि कोई उस समय की सामाजिक-आर्थिक दशा और आदमी की तस्वीर खींचना चाहे तो वह कभी पूरी नहीं होती। पर यह मानना पड़ेगा कि कुछ मुस्लिम इतिहासकारों में कर्तव्य के प्रति एक चेतना थी। बरनी का मत था कि इतिहासकार को विश्वसनीय, निष्पक्ष और सत्यनिष्ठ होना चाहिए। बरनी स्वयं ऐसा नहीं कर पाया, उसके इतिहासलेखन से यह स्पष्ट है, पर इतिहास-मर्यादा के प्रति जागरूकता उसमें दिखाई देती है।

सोलहवीं शताब्दी से, जब से नए मार्ग के आविष्कार के बाद भारत में यूरोपीय मिशनरियों, यात्रियों और व्यापारियों का आना बढ़ा, एक नई बात शुरू हुई। इनमें से अधिकांश इस नई और अजीबोगरीब दुनिया को देखकर चकित रह जाते थे। उनमें से कुछ अपनी प्रतिक्रिया और देखी-सुनी बातें लिख डालते थे। यूरोप के पुनर्जागरण के बाद जो जिज्ञासा जागी थी उसके कारण भारतीय जीवन के कितने ही पहलुओं की यात्रियों और मिशनरियों ने खोज की। ब्रिटिश राज्य के स्थायी होते-होते प्राचीन और तत्कालीन भारत पर यूरोपीय लोगों ने कितने ही ग्रंथ लिख डाले। प्राचीन लिपियों, जो भुलाई जा चुकी थीं, को पढ़कर अशोक की पुनर्प्रतिष्ठा हुई। प्राचीन भारत की विद्याओं और साहित्य की धूम मच गई। प्राचीन भारत का इतिहास लिखा जाने लगा।

पर इन कार्यों में अधिकांशतः यूरोपीय लोग ही लगे हुए थे। **जेम्स मिल, एलफिंस्टन, इरविन** आदि ने भारतीय इतिहास का समग्र रूप—भले ही वह विवादास्पद हो, प्रस्तुत किया। अंतर्दर्शन और आत्म-निरीक्षण के आदी भारतीय अनुदर्शन या सिंहावलोकन का कार्य करने में अब भी हिचकते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में जब नई चेतना का संचार हुआ और भारतीय मध्यम वर्ग अस्तित्व में आ गया तब भारतीयों ने भी अन्य क्षेत्रों की तरह इतिहास के क्षेत्र में कलम उठाया। यूरोपीय कम्पनियों के अभिलेखों, उनके कर्मचारियों द्वारा स्वतः किए गए या कम्पनी द्वारा कराए गए शोध ग्रंथों और पुस्तकों ने आधुनिक इतिहासलेखन की शुरुआत की। भारतीय लेखकों ने उनका अनुकरण किया और प्रायः प्राचीन भारत के क्षेत्र में ही अपना कार्य सीमित रखा। शायद इसलिए कि अपनी गुलामी से पलायन का एक तरीका था कि अपने गौरवशाली इतिहास की शरण ली जाए। दूसरे, प्राचीन भारत के विषय में कुछ भी लिखा जा सकता था। इस क्षेत्र में सत्ता से टकराहट की कम गुंजाइश थी।

इस क्षेत्र में एक अपवाद का जिक्र करना आवश्यक है। **अबू तालिब** (1752-1806 ई.) ने अपने लेखन में समय से आगे होने का परिचय दिया। उसने यूरोप की यात्रा की और मानव सभ्यता के विकास में आर्थिक तत्व का महत्व फौरन समझ लिया। उसने यह भी लिखा कि धनी और गरीब के बीच की खाई सांस्कृतिक विकास का मार्ग अवरुद्ध करती है। उसने नौसैनिक शक्ति और औद्योगिक क्रांति का महत्व समझा। उसके ऐतिहासिक विश्लेषण की परंपरा का तत्काल प्रभाव नहीं पड़ा अन्यथा अबू तालिब इस तरह भुला नहीं दिया जाता। उसका भुलाया जाना इस बात का प्रमाण था कि उस समय तक भारत में वैज्ञानिक अध्ययन की मानसिकता नहीं बन पाई थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय इतिहासकारों ने इतिहासलेखन में काफी रुचि लेना शुरू किया। पर ऐसा लगता है कि उन्होंने अपना इतिहासदर्शन नहीं निश्चित किया। इतिहासचिन्तन और इतिहासलेखन और इतिहासलेखन की पद्धति के सैद्धांतिक और व्यवहारिक पक्ष से प्रायः अनभिज्ञ भारतीय इतिहासकारों ने यूरोपीय लेखकों की नकल शुरू की। उन्होंने जैसे इतिहास लिखे या जैसे विचार प्रतिपादित किए वे प्रायः भौंडी नकल बनकर रह जाते थे। **बी.के.सरकार** ने 'पॉजिटिविस्ट' विचारों का इतिहास पर प्रभाव देखकर इतिहास विज्ञान पर लिख मारा और इतिहास को भौतिकी की तरह का विज्ञान घोषित कर दिया। जाहिर है कि इस तरह की अंधी नकल से किसी दिशा का निर्देश नहीं हो सकता था।

पश्चिमी विचारों के प्रभाव में कुछ लेखकों ने चिंतन-लेखन शुरू किया जो उस समय स्वाभाविक था। केशवचंद्र सेन ने हीगेल और कार्लाइल के प्रभाव में इतिहास में ईश्वरीय तत्व और विभूतियों की महानता को स्वीकारा और उन्हें ही निर्णायक माना। लेकिन हेगेल और कार्लाइल की ही तरह राष्ट्रवादी होते हुए भी उन्होंने संकुचित राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर बात की और स्वयं को 'एशिया पुत्र' कहा।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इतिहास के प्रति जागरूकता दिखाई। तथ्यों और विचारों के इतिहास के बीच अंतर किया और यह स्वीकार किया कि भारत में तथ्यों के इतिहास पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

उस काल में इतिहासचिंतन से सबसे महत्वपूर्ण नाम **अरोविन्दो** का है। उनके प्रशंसक तो उनको संत आगस्टाइन, हेगेल और मार्क्स से जोड़कर देखते हैं। उन पर 'जर्मन रोमेंटिसिज्म' और आदर्शवाद का बहुत प्रभाव था। उनके अनुसार ईश्वर की इच्छा ही मनुष्य के विभिन्न कार्यों में अपने को अभिव्यक्त करती है— व्यक्ति, परिवार, संप्रदाय, राष्ट्र हर स्तर पर। हेगेल की तरह उन्होंने भी माना कि इतिहास में 'दैवी इच्छा' अपने को 'एजेन्टों' के माध्यम से चरितार्थ करती है। उन्हें ही महापुरुष कहते हैं। अरोविन्दो ने राष्ट्रीय आन्दोलन की नियतिवादी व्याख्या की। उनका राष्ट्रप्रेम उनकी विचारधारा का मूल तत्व है। उन्होंने भारतीय राजनीतिदर्शन में एक भविष्योन्मुखता स्थापित की, एक ऐसे स्वर्णयुग की कल्पना की जो भविष्य के आध्यात्मिक समाज में चरितार्थ होगा। इस प्रकार प्राचीन आधुनिक तथा पूरब-पश्चिम का समन्वय करते हुए इतिहास के प्रगतिवादी सिद्धांत को ही उन्होंने स्वीकारा।

प्रगति में विश्वास आज के विचारक **टी.एन.सी. महादेवन** के विचारों में भी उपस्थित है। शंकराचार्य के प्रशंसक वेदांती होते हुए भी और शंकराचार्य द्वारा प्रगति

में अविश्वास के बावजूद, महादेवन के अनुसार मनुष्य अपनी पूर्णता की ओर बढ़ रहा है—वह पतनोन्मुख नहीं है।

इन विचारकों का यह योगदान तो है कि भारतीय चिंतन-परंपरा की नियतिवादिता के साथ प्रगतिवाद को भी स्थापित हुआ। लेकिन इतिहास के क्षेत्र में मौलिक चिंतन को कौन कहे सामान्य चिंतन भी कभी-कभार ही दिखाई पड़ता है। इतिहासकार स्वयं प्रायः वैचारिक दृष्टि और प्रतिबद्धता से बचते रहे हैं। उन्होंने इतिहास के अंतर्तत्व, उसकी शोध-पद्धति, संयोजन और प्रासंगिकता पर जो कुछ भी सोचा-लिखा वह अपवाद सरीखा ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी में आई चेतना के बाद शिक्षित भारतीयों ने अपने असम्मानजनक और संकटग्रस्त वर्तमान की तुलना गौरवशाली अतीत से की, जिसके गुण साम्राज्यवादी देशों के विद्वान भी गा रहे थे। कालिदास को पढ़कर किसी का 'मनमयूरा नाचने लगता था।' किसी को भारत एक 'आश्चर्य' लगता था। भारतीय मिथकों में हनुमान का चरित्र इसी प्रवृत्ति का द्योतक है कि भारतीयों को दूसरों के बताने पर ही अपनी शक्ति का अहसास होता है (याद करें सीता को ढूंढ़ते वक्त सबके साथ हनुमान का निराश-हताश बैठ जाना और जामवंत के याद दिलाने पर 'भूधराकार' होकर सागर पार कर लंका पहुंच जाना)। धीरे-धीरे भारतीयों को भी अपनी ताकत का अहसास होने लगा और उन्होंने पाया कि अंग्रेजों ने इतिहास का उपयोग अपना पक्ष मजबूत करने के लिए किया। कुछ चतुर लोगों को समझ में आया कि वे इतिहास को भारत में राष्ट्रीय हित में इस्तेमाल कर सकते हैं। इस प्रकार भारतीयों ने तात्कालिक लाभ के लिए इतिहासलेखन शुरू किया। राजनीतिसंगत होते हुए भी ऐसा इतिहास भाववादी था और वस्तुनिष्ठता की बार-बार अवहेलना करता था।

जिस प्रकार जेम्स मिल से विंसेन्ट स्मिथ तक अंग्रेज इतिहासकारों ने भारत में अंग्रेजी राज को न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयास किया था, उसी प्रकार के. पी. जायसवाल और शिबली नुमानी आदि ने राष्ट्रवादी चेतना को पुष्ट करने में इतिहास का इस्तेमाल किया। एच.सी.रायचौधुरी, राधाकुमुद मुखर्जी, के.पी.जायसवाल,और जी.एच.ओझा ने भारत के अतीत की भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह तो लोग मानने लगे थे कि भारत की साहित्यिक, दार्शनिक उपलब्धियां महान थीं पर उसे राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ा माना जाता था। जायसवाल ने यह साबित करने का बीड़ा उठाया कि प्राचीन भारत राजनीतिक दृष्टि से भी विकसित था। उस समय निर्वाचन, सांविधानिक राजतंत्र जैसी संस्थाएं, जिन पर शासकों को गर्व था, प्राचीन और कमजोरियों को नजरअंदाज कर केवल गुणगान किया।इस प्रकार जिस तरह

अंग्रेजों ने इतिहास की मर्यादाओं का उल्लंघन किया था, भारतीयों ने भी करना शुरू कर दिया।

स्पष्ट है कि ऐसे भारतीय इतिहासकार लोकप्रिय हुए और राष्ट्रवादी चेतना के महत्वपूर्ण अंग बन गए। पर अंततोगत्वा उन्होंने भारतीय मानव को अतीतगामिता और आत्मतोष से मुक्त करने में कोई भूमिका नहीं निभाई। कुल मिलाकर दूरगामी दृष्टि से, इस देश के सही बौद्धिक विकास में उनकी भूमिका नकारात्मक ही सिद्ध हुई।

यदि भारत में अतिराष्ट्रवादी ही इतिहासकार होते तो निश्चित था कि इतिहास की समझ आगे नहीं बढ़ पाती। पर ऐसे लोग भी थे जिन्होंने तथ्यों की मनमानी व्याख्या करके अतीत की रंगीन तस्वीर पेश करना मुनासिब नहीं समझा। भंडारकर ने स्पष्ट रूप से कहा कि इतिहासकार तो जज होता है वकील नहीं, जो जाति या देश को मुवक्किल समझकर इतिहास में उसके पक्ष के तर्क ढूंढ़े। उसका एक मात्र लक्ष्य 'अतीत के सत्य' की तलाश है जो उसे जागरूक होकर करना चाहिए। भंडारकर स्वयं आस्तिक हिन्दू थे लेकिन इतिहासलेखन में उन्होंने न धार्मिक भंगिमा अपनाई, न आध्यात्मिक।

इसी तरह **एन.जी.चापेकर** ने भी स्थापित किया कि इतिहास अतीत की महत्वपूर्ण और विशिष्ट घटनाओं का, जिनकी अपनी अस्मिता होती है, कोष है। इतिहासकार को उनकी शोध और व्याख्या 'ज्ञान' के हित में करनी चाहिए। वे स्वीकार करते हैं कि इतिहासकार अपनी व्यक्तिगत स्थिति से अछूता नहीं रह सकता पर उसका लक्ष्य व्यक्तिगत नहीं हो सकता।

जदुनाथ सरकार ने इतिहास और साहित्य के बीच विभाजक रेखा खींचने में हमेशा कठिनाई महसूस की। वे मुगलकालीन अपने विशद् अध्ययन और विस्तृत लेखन के लिए याद किए जाएंगे। उन्होंने शोध का वैज्ञानिक तरीका अपनाया था। इतिवृत्त को मानचित्रों और भौगोलिक अध्ययन से जोड़कर उन्होंने तथ्यों को सही परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने का प्रयास किया था। सरकार ने इतिहासलेखन में अधिकतया ज्ञान की परिपाटी अपनाई। भारतीय इतिहासलेखन में वैचारिकता, विश्लेषण, चिंतन और वैज्ञानिकता की कमी के प्रति वे सचेत थे पर उनका ख्याल था कि अभी पूरे तथ्य ही उपलब्ध नहीं है। अतः पर्याप्त तथ्यों के आधार पर सामान्यीकरण करना गलत होगा। उन्होंने इतिहास में 'सत्यम् ब्रूयात्' की वकालत की। सत्य भले ही अप्रिय हो, उससे देश का गौरव घटे या बढ़े, सम्मान मिले या असम्मान, वे सत्य के अतिरिक्त कुछ भी लिखने को तैयार नहीं थे। इस तरह उनमें विचार तत्व की कमी भले ही

खटके, वे स्वयं उसके प्रति जागरूक थे और मानते थे कि भविष्य में भारतीय इतिहासकार इस दिशा में भी कुछ करने में समर्थ होंगे।

जवाहरलाल नेहरू पेशेवर इतिहासकार नहीं थे, पर होते तो यह इतिहास-जगत के लिए उपलब्धि होती। उनके विचार से अतीत, वर्तमान और भविष्य को अलग करके नहीं देखा जा सकता। उनका संबंध अविभाज्य है। उन्हें अतीत में महज इसलिए दिलचस्पी थी कि वर्तमान का स्रोत अतीत है। उन्होंने तथ्यों को विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा और समझा ताकि वे बेहतर ढंग से समझ में आ सकें। उनकी पुस्तकों में जिस इतिहास दृष्टि का परिचय मिलता है वह उनके समकालीन इतिहासकारों में देखने को नहीं मिलती।

के.एम पणिक्कर एक विद्वान इतिहासकार थे जो भारत के अतीत से प्रेम करते थे। उन्होंने भारतीय महाकाव्यों (महाभारत और रामायण) की तुलना होमर के ग्रंथों से की और उनमें इतिहास के तत्व ढूंढ़े। फिर भी विश्व इतिहास के अध्ययन और व्यक्तिगत व्यापक अनुभवों की सुविधा के कारण उन्हें एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य मिला। उन पर उपयोगितावाद का प्रभाव स्पष्ट था। उन्होंने स्पष्ट कहा कि किसी देश का इतिहास निरर्थक होगा यदि वह वहां के निवासियों को बेहतर और पूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा और उसके लिए संघर्ष के लिए प्रेरित न करे। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की गहमागहमी के वातावरण में लिखने वाले किसी भी संवेदनशील इतिहासकार के लिए कठिन था कि वह अपने राष्ट्रप्रेम की उपेक्षा करे पर इसे स्वीकार केवल कुछ लोगों ने किया। पणिक्कर ने इसे साफ-साफ स्वीकार किया था। साथ ही वे भी उस अंतर्द्वंद्व और अस्पष्टता के शिकार थे जो स्पष्ट विचार और उपकरण के अभाव में किसी भी इतिहासकार को सही पकड़ से वंचित कर सकता है।

ताराचंद ने भी एक तरफ तो यह माना कि इतिहास एक व्यक्ति-सापेक्ष लेखन है क्योंकि उसका आधार इतिहासकार की रुचि, उसका चुनाव और उसका निर्णय होता है, दूसरी तरफ यह भी कहा कि इतिहासकार को सत्य और केवल सत्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। बिना इतिहास के सत्य को व्याख्यायित किए 'सत्य' का कोई मतलब नहीं निकलेगा। उन्होंने क्रोचे की तरह यह भी माना कि 'सब इतिहास समकालीन इतिहास होता है' पर वह स्वयं उसे समकालीन सरकार के पक्ष-पोषण तक ले गए। यह गलत था।

रमेशचंद्र मजुमदार ने जोर देकर कहा कि कोई भी हिन्दू, मुसलमान या अंग्रेज भारतवर्ष का पूर्णतया वस्तुनिष्ठ इतिहास नहीं लिख सकता। उन्होंने स्पष्ट नहीं किया कि किसी भी ऐसे इतिहासकार का हिंदू, मुसलमान या अंग्रेज होना क्यों जरूरी

है। साथ ही वह इस बात पर भी जोर देते हैं कि इतिहासलेखन में किसी भी राजनीतिक या मानवतावादी धारणा के कारण पक्षपातपूर्ण रवैया नहीं अपनाया जाना चाहिए। वे **फिशर** की बात मानते हुए लगते हैं कि 'प्रगति प्रकृति का नियम नहीं है।' और इस बात में वे संदेह प्रकट करते हैं कि इतिहासदर्शन जैसी कोई चीज हो सकती है। पर नीबर और फिशर के स्वर मे स्वर मिलाकर इस संकल्प की दुहाई भी देते हैं कि इतिहासकार सत्य की स्थापना के लिए लिखें। उनका अध्ययन व्यापक पर लेखन संकीर्ण है।

उपर्युक्त कुछ सर्वाधिक प्रतिष्ठित इतिहासकारों ने, जिनके पहल, अध्ययन, विद्वत्ता और विस्तृत लेखन ने भारत में इतिहासलेखन को प्रतिष्ठा दी है, उस विद्या की महत्ता और गरिमा तथा उसके वैचारिक पक्ष और पद्धति पर विरोध नहीं लिखा। ऐतिहासिक पद्धति के वैज्ञानिक विकास और उसे सर्वमान्य बनाने की दिशा में उन्होंने वह सब नहीं किया जिसकी उनसे अपेक्षा थी। उन्होंने उन बच्चों की तरह व्यवहार किया जो सवाल पूछने पर उसके सही जवाब तो बता दें पर यह पूछने पर कि वह जवाब तक कैसे पहुंचे चुप रह जाएं और ताक-झांक करने लगें।

भारतीय इतिहासकारों में **डी.डी.कोसंबी** का नाम अपना अलग महत्व रखता है। वे पेशे से गणितज्ञ थे, इतिहासकार नहीं, पर उनकी व्यापक विद्वत्ता और कुशाग्रता ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट हुई। उन्होंने **रान्के, मूमसों, स्पेंगलर और टायनबी** का विशद अध्ययन किया पर सबसे अधिक प्रभावित हुए **मार्क्स** से। उन्होंने मार्क्स की सभी स्थापनाओं को ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकारा पर यह उन्हें भी मान्य था कि समाज का निर्णायक तत्व उत्पादन है। इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धांत-इतिहास की द्वंद्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या को उन्होंने सही माना और उसी के अनुसार भारतीय इतिहास का अध्ययन और उसकी व्याख्या की। उन्होंने विश्वशांति की स्थापना के लिए इतिहास को एक माध्यम माना। उन्होंने साफ-साफ कहा कि हर इतिहासकार के सामने एक परिकल्पना नहीं एक सिद्धांत होना चाहिए। उन्होंने इतिहासलेखन में स्वयं एक मानदंड स्थापित किया। यह परम्परा के इतना विरुद्ध था कि स्थापित इतिहासकार उससे कुढ़ गए। मजुमदार ने उन पर अल्पज्ञान और अनाधिकार चेष्टा का आरोप लगाया जो खोखला साबित हुआ। धीरे-धीरे अधिकांश इतिहासकार इस व्याख्या की सच्चाई स्वीकार करते जा रहे हैं और कोसंम्बी की परंपरा विकसित होती जा रही है। प्रतिकूल स्थितियों और व्यवस्था के प्रत्यक्ष-परोक्ष दबावों के बावजूद वही आज भारतीय इतिहासलेखन की सबसे अधिक स्वीकार्य और प्रतिष्ठित धारा हो गई है।

आज भारतीय इतिहासलेखन की प्रमुख धाराओं और उनके स्वरूप पर गौर कर लेना आवश्यक है।

राष्ट्रवादी धारा: राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान इतिहास की राष्ट्रवादी प्रवृत्ति स्वाभाविक थी। अपने अतीत से विमुख और वर्तमान से संत्रस्त भारत को उन्नीसवीं शताब्दी में जब ज्ञान हुआ कि वह एक गौरवशाली परंपरा का उत्तराधिकारी है तो पिछली कुछ शताब्दियों की अकर्मण्यता और वैचारिक शून्यता पर दुःख हुआ। तभी आर्थिक आधार बन जाने पर, नई शिक्षा और चेतना से लैस नव मध्यवर्ग ने सिर उठाया। सारी दुनिया का विकास उसकी आंखें खोलने लगा। उसकी चेतना का विस्तार होने लगा। भारतीयों ने देशप्रेम को नए संदर्भों में समझना शुरू किया। स्वाभाविक था कि परतंत्रता बोझ और अवरोध लगने लगी। देशप्रेम राष्ट्रधर्म हो गया। प्रबुद्ध लोगों ने अपने हित के अनुकूल अपनी क्षमता और योग्यता के मुताबिक अपने और देश के हित का तालमेल बिठाकर उसे आगे बढ़ाना शुरू किया। इतिहासकार कैसे पीछे रहता? उसने भी देशभक्ति का जामा पहना और इतिहास की ऐसी व्याख्या शुरू की जिससे देश को प्रेरणा मिले और वह अपने 'स्व' को पहचानकर उसके विकास में लग सके।

भारत की अंतर्निहित एकता को रेखांकित करने के उत्साह में उसकी विविधता और विभिन्नता को सायास नजरअंदाज किया गया। यूरोप की सांस्कृतिक एकता को भला कौन नकार सकता है पर उस एकता के नाम पर अगर राष्ट्रीय इकाइयों को गौण समझा जाए तो यूरोप के इतिहास में भारी उलटफेर हो जाएगी। उसी तरह भाषा और अन्य सांस्कृतिक तत्त्वों के कारण और विभिन्न भौगोलिक-ऐतिहासिक स्थितियों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जो इकाइयां विकसित हुई थीं उन्हें स्वीकार करते हुए एकता की बात अधिक उपयुक्त और 'ऐतिहासिक' होगी। धर्म के नाम पर भी जो विभिन्नता थी, वह एक सत्य था। इन बातों को भारत के संघीय संविधान, भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन और भारत के विभाजन के रूप में मजबूरी में कहीं सही तो कहीं गलत ढंग से एक सीमा तक स्वीकारा गया, पर इतिहासकार ने इस विभिन्नता को न तो सही-सही आंका था, न स्वीकारने की हिम्मत जुटाई।

ऐसी प्रवृत्ति के पीछे एक और सूक्ष्म सत्य था। इतिहासकार प्रायः मध्यवर्ग से होता है। मध्यवर्ग नए भारत का अलमबरदार था। उसके हित सारे भारत के हित बन गए थे। यथास्थिति में परिवर्तन से उसे अपनी शक्ति को नया आयाम मिलता दिखाई पड़ रहा था। उसने अपने संघर्ष को राष्ट्रीय संघर्ष की तरह पेश किया, अपना मोर्चा

संभाला और अपने वर्गहित की रक्षा की। इतिहासकार ने भी इसी के अनुकूल अपनी भूमिका बनाई और निभाई।

यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय आंदोलन की परिणति तक स्वाभाविक हो सकती थी पर आजादी के बाद भी इतिहासकारों ने इसे जारी रखा, जो उचित नहीं था। जो होशियार थे उन्होंने विचारों को नया मोड़ देना शुरू किया और वक्त के साथ-साथ चलने का श्रेय भी प्राप्त कर लिया।

पिछले कुछ वर्षों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की धारा प्रवाहित की जा रही है जो राष्ट्रवाद के संकीर्ण पक्ष को उजागर करती है। वह भारत को हिन्दू राष्ट्र घोषित करती है और हिन्दुत्व को भारत के विभिन्न अल्पमतों, दलितों और जनजातियों पर आरोपित करती है। यह राष्ट्रवाद बेहद भेदभावपूर्ण है और इतिहास को उसी तरह विभाजक और विध्वंसक बनाता है जैसे फासीवाद के दौरान जर्मनी और इटली में हुआ था। इतिहास में स्वेच्छाचारी छेड़छाड़ इतिहास को विकृत कर पूरे समाज को गृहयुद्ध की ओर ढकेलती है।

राष्ट्रवाद को शासक लोग अपने हित में प्रतिपादित और प्रचारित करते रहे हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान नेतृत्व वर्ग अधिकांशतः उदार था इसलिए संकीर्णता का विरोध होता रहा। आजादी के बाद उसके हाथ में सत्ता आई तो भारत को एक जनतांत्रिक, सेक्यूलर, गणतंत्र बनाने की जुगत की गई। बाद में समाजवाद जैसा लक्ष्य भी सामने रख दिया गया। यह सब पाखंडपूर्ण रहा हो तब भी जनतंत्र उनके हित का पोषण कर रहा था इसलिए उदार और सेक्यूलर इतिहासलेखन को प्रोन्नत किया जाता रहा।

बीसवीं शताब्दी के अंत में संकीर्ण राष्ट्रवाद के प्रवर्तकों के हाथ में सत्ता आई और तत्काल उन्होंने इतिहास को कठपुतली बनाना शुरू किया। इसका सबसे नग्न और निन्दनीय प्रदर्शन पाठ्यपुस्तकों को लेकर उठे विवाद में हुआ।

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रस्तुत इतिहास की पाठ्यपुस्तकें दशकों तक सारे देश-विदेश में सराही जाती रही हैं। उनकी कुछ व्याख्याओं से कुछ लोगों को असहमति हो सकती है पर सामान्यतः उन्हें स्वीकारा जाता रहा है। इसका एक कारण रहा है उनके लेखकों का अधिकारी विद्वान होना। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रवर्तकों ने पहले हिन्दू समाज में भी अल्पमत द्वारा स्वीकृत ब्राह्मणवाद को सारे हिन्दू समाज के प्रतिनिधि की तरह प्रस्तुत किया फिर उसे सारे भारतीयों पर आरोपित करने का प्रयास किया। पर उनकी पिछड़ी मानसिकता का समर्थन करने वाले विद्वान भी प्रायः नहीं मिलते। इसलिए जो भी उपलब्ध हुआ उसी की मदद से जैसे भी हो अपना पक्ष

पुस्तकों में घुसेड़ा गया। इससे नव प्रकाशित पुस्तकों में न केवल फूहड़, पिछड़ी व्याख्या आई, तथ्य भी गलत प्रस्तुत हुए।

इस प्रकार इतिहास की राष्ट्रवादी धारा जो हमेशा ही खतरनाक साबित हो सकती है, इस दौर में आत्मघाती होती जा रही है। इस वक्त जबकि सारे मानव-समाज को एक करने वाला इतिहास लिखना न केवल आदर्श बल्कि यथार्थ हो सकता है, भारत में संकीर्णता फैलाने का उपकरण बन रहा है। बहरहाल इस विवाद से एक लाभ हुआ है—इतिहासलेखन एक व्यापक दार्शनिक और सांस्कृतिक मुद्दे के रूप में देश की कार्यसूची में दर्ज हो गया है।

'यूनिवर्सल' इतिहास : दूसरी प्रवृत्ति या धारा का भी ऐतिहासिक आधार है। आधुनिक युग की तो अनिवार्यता है कि इतिहास विश्व इतिहास का स्वरूप धारण करे क्योंकि कहीं भी घटने वाली घटनाओं का प्रत्यक्ष-परोक्ष विश्वव्यापी परिणाम सामने आ रहा है। दूसरे मानव इतिहास सारतः अविच्छिन्न है यह भी उद्घाटित हो चुका है।

अंग्रेजी राज के पहले पूरा भारत कभी एक राजनीतिक इकाई नहीं था। धर्म और भावना के नाम पर हिमालय और सागरों से घिरे पूरे भारत के गीत भले ही गाए जाते रहे हों पर वास्तविकता यह थी कि 'देश' सिमट कर मगध, मालवा या चित्तौड़ बन गया था। आम लोगों के लिए गांव से कुछ मील दूर 'परदेस' शुरू हो जाता था। भारत का इतिहास दिल्ली का ही इतिहास होता था—जबकि पहले दिल्ली या उसके पूर्ववर्ती नगर शाहजहांबाद, थानेश्वर और हस्तिनापुर कभी भी पूरे देश की राजधानी नहीं थे। आज भी दक्षिण भारत के इतिहासकार क्षुब्ध रहते हैं कि दिल्ली को ही केन्द्र मानकर इतिहास लिखा जाता रहा है और दक्षिण का इतिहास उत्तर भारत में प्रायः अज्ञात ही रहा है। ऐसे में 'भारत' एक भावना, एक सिद्धांत और एक आदर्श भले ही रहा हो, एक राजनीतिक यथार्थ कभी नहीं था। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान विभिन्नता में निहित एकता पर अतिशय जोर दिया गया। भारतव्यापी शक्ति के अभाव में साम्राज्यवादी शक्ति से लोहा लेना आसान नहीं था। इसलिए एक आदर्श सामने रखकर पूरे भारत को लामबंद करने की कोशिश की गई। प्रथम महायुद्ध के बाद फासिज्म के बढ़ते खतरे ने लोगों को और सचेत किया। इसलिए भारत की एकता के साथ भारत तक ही सीमित न रहने को भी महत्वपूर्ण माना गया।

भारत का मध्यवर्ग अंतर्राष्ट्रीय जुड़ाव महसूस करता था। यूरोप के पुनर्जागरण के बाद की राजनीतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियां, मध्यवर्ग की उपलब्धियां थीं। आर्थिक रूप से वह सर्वशक्तिशाली बन गया था। भारतीय मध्यवर्ग अपने को इन सबका वारिस समझता था। भारत की शिक्षा, रीति-नीति, प्रशासन पर इंग्लैंड का

व्यापक असर था। भारत के सबसे शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग के हितों और महत्वाकांक्षा का अंतर्राष्ट्रीय जुड़ाव था। ऐसे में व्यापक परिप्रेक्ष्य रखना स्वाभाविक था।

दूसरी ओर आत्मकेन्द्रित भारतीय ने जब अपने परिवेश पर नजर डाली, उसे समझा तो जीवन का सीमित दायरा टूटने लगा। समाज पर सर्वांगी दृष्टि डालना आवश्यक हो गया और इतिहास केवल राजनीति की कहानी नहीं रह सकता। भारत के अतीत का जो गौरव उद्घाटित हुआ था वह साहित्यिक-सांस्कृतिक अधिक था। वैसे भी संसार की बढ़ती जटिलता में राजनीति का अलग से एकदम स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। इसलिए इतिहास का क्षेत्र राजनीति से अधिक व्यापक बनाने की अनिवार्यतता थी।

जैसा कि **रान्के** ने कहा था, इतिहास में विशेष तथ्य का ही जिक्र होता है पर उसे देखा व्यापक संदर्भ में जाना चाहिए। लेकिन भारत में ऐसे इतिहासलेखन के लिए परिस्थितियां प्रतिकूल थीं। अंग्रेज भारतीय इतिहास का वही पक्ष उजागर करता था जिससे उनको, उसके साम्राज्य को लाभ हो। राजनीति हावी थी। ऐसे में राजनीति पर ही इतिहास में बल दिया जाता था—अंग्रेजों और भारतीयों दोनों के द्वारा। यह गलती बहुतों द्वारा आज भी दुहराई जाती है।

भारत में लिखे इतिहास में जनता प्रायः अनुपस्थित ही रहती है। आम लोगों के तौर-तरीकों, जीवन-व्यवहार, रहन-सहन, घर-द्वार, तीज-त्यौहार, सोच-विचार से पाठक अनभिज्ञ ही रह जाता है। तभी तो **पणिक्कर** तक को कहना पड़ा कि आम आदमी की जिन्दगी इतिहास में अछूती रह जाती है। उनके अनुसार यह उपयोगी और आवश्यक होगा कि हम पता लगाएं कि कब से, हिन्दू शाकाहारी होने लगे (पहले गोमांस भी खाते थे) और कब से समुद्र पार जाने को गलत समझा जाने लगा (पहले भारतीय दूर-दूर की यात्रा करते थे और दक्षिण-पूर्व एशिया, जावा-सुमात्रा, कम्बोज आदि में उपनिवेश कायम किए गए थे)? इस तरह सामान्य जन-जीवन से रिक्त इतिहास तो अपूर्ण ही होगा।

पर यह तो तभी संभव है जब अधिक से अधिक तथ्य जुटाए जाएं। भारत में प्रायः अंग्रेजी में ही इतिहास लिखा जाता रहा है और अधिकांशतः उन्हीं तथ्यों पर आधारित रहा है जो अंग्रेजी में उपलब्ध हैं। भारत की भाषाओं, विशेषकर हिंदी, बंगला, उर्दू, मराठी और तमिल आदि और श्रव्य स्रोत (ओरल हिस्ट्री) के लिए बोलियों में उपलब्ध साक्ष्यों का नाममात्र ही उपयोग हुआ है। विदेशी भाषाओं में भी बहुमूल्य अभिलेख और ग्रंथ हैं जिन्हें भारतीय इतिहासकारों ने देखा तक नहीं है। डेनमार्क के राष्ट्रीय अभिलेखागार के निदेशक **एक्सेल लिन्वोल्ड** ने एक बार

हिस्टारिकल रेकर्ड्स कमीशन को लिखा था कि कोपेनहेगन स्थित उनकी संस्था में भारतीय इतिहास-संबंधी महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में डेनमार्क ने भी औपनिवेशक विस्तार के लिए हाथ-पैर मारा था। वहां के नाविक और व्यापारी भी भारत से परिचित थे। उन्होंने अवश्य ही कुछ ऐसे दस्तावेज छोड़े होंगे जो भारतीय इतिहास के लिए उपयोगी होंगें। पर शायद ही 'बड़े' इतिहासकारों से बने 'कमीशन' या किसी अन्य इतिहासकार ने उस समग्री का इस्तेमाल किया हो। हालैण्ड और पुर्तगाल, जिनका भारत के कुछ भागों पर राज्य कायम हुआ था, के अभिलेखागार तो और भी समृद्ध होंगे। पर भारत का शोधकर्ता बहुत हाथ-पैर मारता है तो थोड़े फ्रेंच स्रोतों और ग्रंथों का इस्तेमाल कर लेता है। भारतीय और यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध तथ्यों के बिना लिखे गए इतिहास की एकांगिता और अपूर्णता पर गौर करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि इतिहासकार कहलाने वालों की सफलता कितनी सीमित और दंभपूर्ण है, साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह काम कितना दुष्कर और श्रमसाध्य है।

इन कठिनाइयों के बावजूद भारतीय इतिहास अपनी सीमाओं और व्यापक परिप्रेक्ष्य का महत्व समझता रहा है। पर इधर सूक्ष्म अध्ययन (माइक्रोस्टडी) के नाम पर तथ्यों पर सावयव (आर्गेनिक) दृष्टि डालने के बजाय संकीर्ण स्वार्थों के लिए इतिहास के मानकों की अवहेलना शुरू हो गई है और संकीर्ण राजनीति की सेवा या व्यक्तिगत लाभों के लिए इतिहास को माध्यम बनाया जा रहा है। इस पर अंकुश जरूरी है। फिर भी 'यूनिवर्सल' इतिहास की प्रवृत्ति हावी है। यह शुभ लक्षण है।

भौतिकवादी धारा: इतिहासलेखन की तीसरी प्रवृत्ति है भौतिकवादी व्याख्या का बढ़ता प्रयास। ज्यों-ज्यों भारतीय इतिहासकार खोज की सीमा पार कर चिंतन-विश्लेषण की ओर बढ़ रहा है उसे एक दृष्टिगत उपकरण की जरूरत महसूस हो रही है जिसके आधार पर वह इतिहास की घटनाओं को अर्थ दे सके। विज्ञान ने नियतिवादिता की जड़ उखाड़ दी है (यह दूसरी बात है कि अपने अंतिम दौर में नियतिवाद ज्यादा ही व्यापक दिखाई दे रहा हो)। इतिहास में नियतिवादी व्याख्या अब घोर प्रतिक्रियावादी भी नहीं करते। ऐसी स्थिति में मानव सभ्यता की विकास प्रक्रिया के लिए जिम्मेदार तत्वों की तलाश में मध्यवर्गीय चेतना का इतिहासकार भी उत्पादन और वर्गसंघर्ष के महत्व को समझता जा रहा है। द्वंद्वात्मक व्याख्या प्रकृति से मानव-समाज तक हर क्षेत्र में वैज्ञानिक सिद्ध हो चुकी है। वही व्याख्या यदि इतिहास को पारदर्शी, परीक्षित और विश्वसनीय बना दे तो उसे नकार पाना आसान नहीं होता। इसलिए बहुत से इतिहासकार इस ओर उन्मुख होते जा रहे हैं और इतिहास को

आदमी, उसके सामाजिक-आर्थिक अस्तित्व और संघर्ष से जोड़कर देखने की उत्साहवर्धक परंपरा शुरू हो चुकी है। यहां यह रेखांकित करना जरूरी है कि हवा का रुख देखकर कुछ बहुत नासमझ और चालाक लोग अपने-अपने ढंग से आर्थिक विश्लेषण कर रहे हैं। इस ओर हम पहले इशारा कर चुके हैं। धीरे-धीरे छद्म टूट जाएगा या तोड़ दिया जाएगा और उन्हीं को स्वीकार किया जाएगा जो सही ढंग से द्वंद्वात्मक भौतिकवादी उपकरण अपनाएंगे। सोवियत यूनियन के विघटन के बाद इस धारा की प्राथमिकता पर प्रहार बढ़ गया है पर इतिहासलेखन की कुछ ऐसी मूलभूत बातें इस धारा में स्पष्ट होती हैं कि इसे नकारा नहीं जा सकता।

जन-इतिहास : भारत में न केवल जनता का इतिहास कम उपलब्ध है जनता के लिए भी इतिहास नहीं लिखा जाता। इतिहास की जानकारी कक्षा में होती है। कक्षा के बाहर व्यावसायिक पत्रिकाओं के रोमांचकारी लेखों के माध्यम से इतिहास जनता तक पहुंचता है। ये पत्रिकाएं मुनाफे के लिए निकलती हैं। अधिकारी इतिहासकार केवल अधिकारी पुस्तकें लिखने का दावा करते हैं, वह भी केवल अंग्रेजी में, जो अधिकांशतः न उन्हें ठीक से आती है न उनके पाठकों को। वे पुस्तकें कितनी 'आधिकारिक' होती हैं यह अब पर्दे में नहीं रहा। ये इतिहासकार पाठ्यपुस्तकें तक लिखना तौहीन समझते हैं। जब विद्यार्थी जो भी उपलब्ध है उसे पढ़ता है तो उसके 'चीप नोट्स' पढ़ने पर हाय-हाय करते हैं। वे पत्र-पत्रिकाओं में रोचक इतिहास लिखने को भी तैयार नहीं हैं।

नतीजा यह है कि कुछ निहित स्वार्थों के लोग और इतिहास के पुनर्लेखन के ठेकेदार निरंतर यही साबित करने में लगे रहते हैं कि अमुक चीज पूरी तरह हिन्दू, मुसलमान या सिख है और साम्प्रदायिकता द्वारा पोषित जनता ऐसे इतिहास को चटखारे ले-लेकर पढ़ती है। बड़े (?) इतिहासकारों से कहने पर कि या तो इन प्रचारों को मानें या उनका विरोध करें, वे कहते हैं कि 'कौन ऐसे लोगों के मुंह लगे?' गैर-जिम्मेदाराना रवैया जो भारतीय बुद्धिजीवियों का चरित्र रहा है, भारतीय इतिहास पर भी हावी है वर्ना क्या बात है कि इतिहास जैसे विषय में भी आजादी के छह दशकों के बावजूद अच्छी पुस्तकें भारतीय भाषाओं में नहीं उपलब्ध हैं।

इंग्लैंड की लोकप्रिय 'कामनसेंस सीरीज' के संपादक ने अपने लेखकों को कुछ सरल निर्देश दिए थे: 1. सरल भाषा में लिखना, 2. पाठकों को बिल्कुल अनभिज्ञ मानकर लिखना और 3. यथासंभव वस्तुपरक बने रहना। इनका पालन करते हुए जो सीरीज तैयार हुई है वह भारतीय इतिहासकारों के लिए चुनौती है। इस सीरीज में भारत

पर पणिक्कर ने लिखा था। उसी तरह की पुस्तक भारतीय भाषाओं में क्यों नहीं लिखी जा सकती।

भारतवर्ष में, जहां इतिहासबोध का सूत्रपात ही हुआ है, जहां इतिहास का वही पक्ष लोकप्रिय है जो किवदंतियों और गाथाओं का स्वर लिए हुए हो, जो भड़कीला, रोमांचकारी और सनसनीखेज हो, वहां इतिहास की 'पापलुर' पुस्तकें लिखना कितना आवश्यक है, यह सचेत इतिहासकारों के सामने स्पष्ट होना चाहिए था। यह ज्ञान के सरलीकरण का, अधिकारी और दक्ष लोगों द्वारा सामान्य लोगों की रुचि और समझदारी को ध्यान में रखकर सरल पुस्तकें लिखने का युग है। इतिहास के क्षेत्र में भी ऐसा ही होना चाहिए और यह भारतीय भाषाओं में ही हो सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि अंग्रेजी के प्रति मोह टूटे और तोड़ा जाए।

आज भी भारतीय इतिहासकार ऐक्टन की बात— 'समस्याओं का अध्ययन करो, कालों का नहीं, (स्टडी प्राब्लम्स, नाट पीरीयड्स) सुनने को पूरी तरह तैयार नहीं लगता। सारा पाठ्यक्रम नीचे से ऊपर तक प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक के अस्पष्ट विशेषणों से ग्रस्त है।

प्राचीन भारत का इतिहास लिखते समय समकालीन इतिहासकारों का हवाला देने की गुंजाइश नहीं है (क्योंकि वे हैं ही नहीं)। इस क्षेत्र में अभी भी तथ्यों की खोज और उनकी व्याख्या एक आवश्यक काम है। कभी-कभी पर्याप्त तथ्यों के अभाव में एक तथ्य, एक परिकल्पना या सिद्धांत को, बिना उसकी अन्य स्रोतों से पुष्टि हुए ही, ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। समाज की सही तस्वीर प्रस्तुत करने की कोशिश भी शुरू हुई है पर कुछ उत्साही लोग प्राचीन भारत में अत्याधुनिक बातों की तलाश शुरू कर देते हैं और किसी स्रोत से प्राप्त एक तथ्य पर्याप्त होता है एक पूरे सिद्धांत को प्रतिपादित कर देने के लिए। पर पिछले कुछ वर्षों के शोध-अध्ययन की धारा बदली है और प्राचीन भारत का नए सिरे से अध्ययन शुरू हुआ है। पुरातात्विक शोधों का क्षेत्र पुरानी द्वारिका की खोज के बाद सागरतल तक विस्तृत हो गया है और प्राचीन भारत के इतिहासलेखन में नई पद्धति और अवधारणा नए आयाम प्रस्तुत कर रही है।

मध्यकालीन इतिहास के क्षेत्र में इलियट और डाउसन ने इतिहासकारों का प्रत्यक्षतः भला और वास्तव में बहुत नुकसान किया है। ज्यादातर पुस्तकें तो इन्हीं अंग्रेजों द्वारा मनमाने ढंग से संकलित और संपादित ग्रंथों को आधार बनाकर लिख ली जाती रही हैं। ऐसे भी इतिहास मिल जाएंगे जो इलियट और डाउसन द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद मात्र से संतोष कर लेते है। फारसी की कौन कहे, उर्दू तक को

जानने की कभी जहमत नहीं उठाई। उन्होंने अन्य स्रोतों, भारतीय भाषाओ में उपलब्ध, या गैर-राजकीय स्रोतों का इस्तेमाल नहीं किया। नक्शों, सिक्कों, अभिलेखों, साहित्य, पुरातत्व, अन्य समकालीन साक्ष्य, सबका एक साथ और तुलनात्मक विश्लेषण किए बिना प्रायः निरर्थक बहसें होती रही हैं। यही कारण है कि अलबरूनी से फरिश्ता तक जो छवि उभरी थी वह इतने ग्रंथों के लिखे जाने के बावजूद मूलतः बरकरार है। अंग्रेजों द्वारा प्रचलित 'रूलर्स आफ इंडिया सीरीज़' के ढंग पर सुलतानों और शहंशाहों के शासनकाल को आधार बनाकर इतिहास लिखा जाता रहा है। उनके शासनकाल का भी समग्र चित्र कभी-कभी ही प्रस्तुत हो पाया है। यह उत्साहवर्धक है कि अब उन शताब्दियों का सामाजिक-आर्थिक जीवन भी इतिहासकारों को जोड़ रहा है और राजनीतिक तड़क-भड़क, तमाशों और षड्यंत्रों के बाद जनजीवन भी इतिहास के पृष्ठों पर उभर रहा है।

'भारतीय इतिहास के आधुनिक काल में स्थिति बदल जाती है।' इस काल पर भारतीय इतिहासकारों ने बहुत बाद में कलम उठाई और वह भी अंग्रेज इतिहासकारों का अनुकरण करते हुए या उनके प्रभाव में। उस समय सत्य का उद्घाटन करने का साहस किसी भी इतिहासकार में नहीं था। रजनी पाम दत्त, नानवेन्द्र नाथ राय और जवाहरलाल नेहरू ने लिखा पर वे इतिहासकार नहीं थे इसलिए सही इतिहास लिखा जाना कठिन था। सही इतिहास लिखा भी जाता तो लेखक यदि अंग्रेज होता तो भी उसे जोखिम उठाना पड़ता। कनिंघम के 'सिक्खों का इतिहास' के साथ यही हुआ। डलहौज़ी ने उसके प्रकाशन को जुर्म करार दिया था।

धीरे-धीरे न केवल कथ्य बल्कि शैली और पद्धति की दृष्टि से भी आधुनिक इतिहास लिखा जाने लगा। आधुनिक इतिहास के क्षेत्र में अज्ञात तथ्यों के शोध और तथ्यों की कमी की समस्या उतनी नहीं थी। उल्टे यहां तथ्यों की बहुलता समस्या बन जाती है। बदलती और बदली हुई स्थितियों में गवर्नर जनरलों के शासनकाल को आधार बनाकर इतिहासलेखन कम हुआ और समस्याओं का, इतिहासधारा का और प्रवृत्तियों का अध्ययन शुरू हुआ।

इस प्रकार प्राचीन भारत के इतिहासलेखन में तथ्यों और घटनाक्रम तथा तिथियों को निर्विवाद रूप से स्थापित करने की समस्या बनी हुई है। इसलिए विश्लेषण करने वाले ग्रंथ पर्याप्त नहीं हैं। मध्यकाल पर लिखे गए ग्रंथ बहुत हैं। पर उनमें भी कुछ अपवादों को छोड़कर, परिप्रेक्ष्य सीमित और शोध पद्धति त्रुटिपूर्ण रही है। वैसे हम प्राचीन काल और मध्यकाल पर अधिकारी ढंग से कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं। लेकिन विहगावलोकन के बाद भी यह कहा जा सकता है कि इन क्षेत्रों में इतिहास की

अविधारणा की कमी, उसके लक्ष्य की सीमा और अस्पष्टता, तथ्यों के चुनाव की दोषपूर्ण पद्धति, शोध की वस्तुगत सीमाएं और वैज्ञानिकता तथा संकुचित परिप्रेक्ष्य इतिहासलेखन को दोषपूर्ण बना देते हैं।

इतिहासकार **रेनियर** ने कहा था कि इतिहास लेखक प्रायः यह लोभ संवरण नहीं कर पाता कि उसका पूरा शोध-अध्ययन उसकी पुस्तक में खप जाए और वह अपनी पुस्तक में सब कुछ ठूंस कर उसे निरर्थक बना देता है। भारत में कभी-कभी स्थिति उल्टी होती है। पूरे तथ्य तलाशने की कोशिश ही नहीं की जाती है, बस उतने ही तथ्यों से जितने से शोध-प्रबंध या पुस्तक का वजन भारी लगने लगे काम चला लिया जाता है। यह सत्य है कि अक्सर भारतीय इतिहासकार इतना साधन संपन्न नहीं होता कि सारे आवश्यक तथ्य जुटा सके। बिना सहायता भारत के अधिकांश इतिहास लेखक राष्ट्रीय अभिलेखागार और राष्ट्रीय पुस्तकालय का भी पूरा इस्तेमाल नहीं कर सकते। दिल्ली-कलकत्ता की दौड़ से अक्सर उनकी कमर टूट जाती है। देश के बाहर उपलब्ध तथ्यों की तो बात ही और है। राष्ट्रीय अभिलेखागार में जाने पर पता चलता है कि 'ब्रिटिश राज' संबंधी अधिकांश महत्वपूर्ण फाइलें इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन में हैं जो भारत-पाक विवाद के चक्कर में अनंत काल तक शायद वहीं रह जाएं। पर यह भी सच है कि जितने भी साधन उपलब्ध हैं उनका भी पूरा इस्तेमाल करने की इच्छा और लगन नहीं है। यहां यह मान लेना पड़ेगा कि विकृत शिक्षा व्यवस्था न वह प्रेरणा देती है, न वह मर्यादा स्थापित करती है जिसमें कोई ईमानदारी से कार्य करे या करना आवश्यक तथा अनिवार्य हो वर्ना यू.जी.सी. की छात्रवृत्ति लेते हुए सालो साल सिविल सर्विसेज की परीक्षा देते जाने की कुप्रथा को क्यों नजर अंदाज किया जाता।

फ्रेंच इतिहासकार **मारू** ने कहा है कि बहुत से इतिहासकार किसी समीक्षात्मक दर्शन और इतिहास के संबध में सुनिश्चित और विवेकपूर्ण अवधारणा से रिक्त होते हैं। उन्हें अपनी स्थिति और सीमा का भी ज्ञान नहीं होता। ऐसे इतिहासकारों का लेखन व्यर्थ होता है। यह बात अधिकांश भारतीय इतिहासकारों पर लागू होती है। ऐसे बहुत कम इतिहासकार मिलेंगे जिन्होंने जानने-समझने की कोशिश की हो, इतिहास लिखने से पहले स्पष्ट हो गए हों कि इतिहास क्या है? उसका वैचारिक पक्ष क्या होता है और उसकी प्रासंगिकता क्या है? और जिन्होंने इतिहासलेखन की पद्धति, अनुशासन और मर्यादाओं को ज्ञान लिया हो, इतिहास की सीमाओं से परिचित हों और स्वयं अपने विचारों-पूर्वाग्रहों के प्रति सचेत हों।

एक और बात पर गौर करना जरूरी है। भारतीय इतिहासकार अपनी और इतिहास की महत्ता तथा गरिमा के प्रति आश्वस्त नहीं होता। ऐसा शायद इसलिए होता है कि इतिहासबोध की परंपरा के अभाव में भारतवर्ष में इतिहास जनमानस में बड़े विकृत रूप में स्थापित रहा हैं। जैसी शिक्षा पद्धति थी और है, उसमें इतिहास नामों, तिथियों और घटनाओं का पिटारा बनकर रह गया है जिसे कोई मजबूरी में, कोई प्रतियोगिता में सफल होने के लिए पढ़ता है (यह एक महत्वपूर्ण अध्ययन होगा कि देखा जाए कि सर्विस कमीशनों से इतिहास के पर्चे निकाल दिए जाएं तो कितने लोग विश्वविद्यालयों में इतिहास पढ़ेंगे। विचारशून्य इतिहास पढ़ा-लिखा जाता रहा है। जाहिर है कि ऐसे इतिहास का लेखक या प्रवक्ता अपने को समाज में बहुत उपयोगी नहीं समझेगा। परिणामतः दूसरे इतिहास को निरर्थक समझें तो समझें ऐसा लगता है कि स्वयं इतिहासकार अपनी और इतिहास की भूमिका नहीं समझता। ऐसा शायद इसलिए भी होता है, जितनी श्रमसाध्य वैज्ञानिक पद्धति अपनानी पड़ती है, दार्शनिक दृष्टि से जितना लैस होना पड़ता है, इतिहासकार प्रायः उसकी उपेक्षा करता है, उसकी जरूरत नहीं समझता या उसके प्रति सचेत नहीं होता, प्रशिक्षित नहीं होता।

सिसरो ने एक बार कहा था कि इतिहासकार के लिए पहला नियम है, कभी झूठ कहने की हिम्मत न करना और दूसरा नियम है, जो सच है उसे किसी कीमत पर कह देना। यह सही है कि इतिहास मे सही-झूठ का निर्धारण बड़ा जटिल होता है और सत्य एक सीमा तक सापेक्षतः ही कहा जा सकता है, पर सिसरो की बात इतिहासकार की चेतना, उसके उत्तरदायित्व और उसके नैतिक साहस की ओर इशारा करती है। इसीलिए उसकी बात कभी पुरानी नहीं होगी। विशेषकर भारतीय इतिहासकारों के संदर्भ में इसका आज भी बहुत महत्व है।

भारतवर्ष में इतिहासलेखन की एक और समस्या है। यह सच है कि कोई भी व्यवस्था वैसा ही इतिहास लिखवाना चाहती है जो उसके हितसाधन में सहायक हो। एक अनुकूल मानसिकता और जीवन-मूल्य बनाने में इतिहास की मदद आवश्यक है। इसीलिए शासन-वर्ग ने हमेशा इतिहास का इस्तेमाल किया है। जिन देशों में आर्थिक स्थिति बेहतर है और प्रबुद्धता का स्तर भी ऊंचा है वहां पर इतिहासकार अपनी जिम्मेदारी समझकर इतिहास लिखता है। इसलिए यदि कुछ बातें व्यवस्था के पक्ष में जाती हैं तो कुछ विरोध में भी। भारत में बुद्धिजीवी आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है। इतिहासकार को शोध के लिए, प्रकाशन के लिए, सरकारी मदद हर कदम पर आवश्यक लगती है। पर इस दिशा में सरकार की भूमिका सर्वथा गलत रही है। स्वतंत्रता के बाद स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास लिखने की ललक स्वाभाविक थी, पर

सरकार ने उसे लिखवाने की जिम्मेदारी ओढ़ ली। 1957 आते देखकर सरकार ने बृहद स्तर पर 1857 की शतवार्षिकी मनाने का निश्चय किया। किताबें लिखवाई गईं और यह विवाद कि 1857 का विद्रोह स्वतंत्रता संग्राम था या नहीं— था तो किस हद तक, इतिहासकारों के बीच स्वतंत्र रूप से चर्चित होने के बजाय सरकारी नीति का ध्यान रखकर किया जाने लगा। मजुमदार का कथन है कि ऐसे निर्देश दिए गए थे कि जो तथ्य 1857 को स्वतंत्रता संग्राम सिद्ध करें, वहीं एकत्र किए जाएं। सरकार ने एक विस्तृत इतिहास लिखवाने की जिम्मेदारी ले ली और कार्य सौंपा गया डॉ. ताराचंद को। वहीं से एक विवाद खड़ा हुआ जिसमें भारत के दो प्रसिद्ध इतिहासकार ताराचंद और रमेशचंद मजुमदार उलझ गए। दोनों ने अलग-अलग इतिहास लिखा पर उनका विवाद इतना चर्चित हो चुका था कि उनकी पुस्तकें भी निर्विवाद नहीं रह सकीं और उन पर जितना धन, श्रम व्यय हुआ उतनी प्रतिष्ठा उन्हें नहीं मिली।

यह बदनीयती 2007 में और भारी पैमाने पर दोहराई गई और करोड़ों रुपए सतही सेमिनारों और मनोरंजन आयोजनों में उड़ा दिए गए।

गांधीवादी सिद्धांतों के कारण ही स्वतंत्रता मिली, यह सिद्ध करने में उनका भला था जो 1947 के बाद सत्ता के उत्तराधिकारी थे। इसलिए क्रांतिकारियों का महत्व जहां तक हो सका, घटाया गया। यह केवल एक उदाहरण है। यदि सरकार केवल तथ्यों का संग्रह करने वालों की मदद करती और संग्रहीत तथ्यों को प्रकाशित कर देती तो इतिहासकार स्वयं जो उचित समझता, जिस तरह समझता, करता। पर जब प्रलोभन हो तो इतिहासकार भी आदमी होता है और आस्कर वाइल्ड की तरह कह सकता है कि मैं प्रलोभन के अतिरिक्त हर चीज के सामने टिक सकता हूं।

इसी तरह सुन्दरलाल की पुस्तक सूचना मंत्रालय द्वारा छपवा कर इतिहास के क्षेत्र में सरकार ने एक गलत मिसाल कायम की है। सुन्दरलाल की पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज' को अंग्रेजी सरकार ने खतरनाक समझ कर उसे प्रतिबंधित कर दिया था। पुस्तक अंग्रेजों की बखिया उधेड़ती है। पर सुन्दरलाल इतिहासकार नहीं थे। मेजर बसु की पुस्तक का सहारा लेकर आधे-पूरे उदाहरणों के सहारे उन्होंने अंग्रेजों के जालिमाना 'राज' के काले कारनामों को हिन्दी में जनता के सामने रखा। मान लिया जाए कि अंग्रेजों के खिलाफ संघर्षरत भारतीय मध्यवर्ग का आक्रोश बढ़ाने में इस पुस्तक ने एक भूमिका निभाई। पर स्वतंत्रता के बाद उसे फिर से प्रकाशित करने के पीछे सरकार का क्या मंतव्य हो सकता था? यदि वह पुस्तक अनुपलब्ध थी तो उसे उपलब्ध कराने में सरकार की विशेष रुचि क्यों? भगतसिंह के लिखे लेख इसी तरह क्यों नहीं प्रकाशित किए गए? सुन्दरलाल की पुस्तक की कुछ प्रतियां प्राप्य थीं ही

जो पुस्तकालयों में मिल जातीं। भारत के वर्तमान इतिहासकारों की क्षमता पर विश्वास करने की आवश्यकता थी, जो उस समय की सही तस्वीर प्रस्तुत करने में लगे हुए हैं। ऐसा विकृत इतिहास जनता का हित नहीं करता, उस जनता का भी नहीं करता जिसके हित को ध्यान में रखकर वह लिखा गया था।

यहां भारत में इतिहास की शिक्षा पर एक नजर डालने का लोभ संवरण नहीं हो रहा है। प्रारंभिक कक्षाओं में तो प्रायः गाथाएं ही पढ़ाई जाती हैं। वास्तविक और काल्पनिक के बीच अंतर ही नहीं रह जाता और विकास-काल की मानसिकता में जो विचार जड़ दिए जाते हैं उनका प्रभाव जीवन-भर नहीं मिटता। यह इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि केवल प्रारंभिक कक्षाओं में इतिहास अनिवार्यतः पढ़ाया जाता है। इसलिए जनमानस तैयार करने का काम वहीं होता है। यदि उस समय की पाठ्य-पुस्तकों को देखा जाए तो दो-तीन बातों पर जोर डालने के लिए इतिहास के महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन की कुछ घटनाओं को उजागर किया जाता है। सारी दृष्टि यह होती है कि भारत का अतीत गौरवशाली है, भारत में एकता रही है। हिन्दू मुस्लिम एक हैं, (कभी इस पर जोर रहता है कि अलग-अलग हैं)। बुद्ध, अशोक, अकबर, गांधी जैसे लोग 'असाधारण' थे, इतिहास के 'हीरो' थे, और समाज के निर्माता तथा आदर्श हैं। यह अपूर्ण शिक्षा भी भोंड़े ढंग से दी जाती है। मसलन एक ही विद्यार्थी को 'अकबर' के हिंदू प्रेम के बारे में भी पढ़ाया जाता है और 'हल्दीघाटी' भी जिसमें राणा प्रताप और अकबर की दुश्मनी के माध्यम से राणा प्रताप के साहस और नायकत्व को सराहा गया है। इस तरह के असंख्य उदाहरण मिलेंगे कि स्कूल में पढ़ता हुआ बच्चा राम-कृष्ण को भी ऐतिहासिक पुरुष मान लेता है और सब धर्मों को समान समझने की बात पढ़ते-पढ़ते घोर सांप्रदायिक और संकीर्ण हो जाता है। बीच-बीच में ऐसा भी दौर आता है जब सरकारी संरक्षण में इतिहास को सांप्रदायिक बनाने की मुहिम-सी चल पड़ती है।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में जब विद्यार्थी इतिहास पढ़ता है तो नामों और तिथियों की भूल-भुलैया में फंस जाता है। उसकी समझ में बस यह आता है कि इतिहास का अर्थ होता है अतीत के कुछ नामों और तिथियों की ब्योरेवार जानकारी और उन पर कुछ विद्वानों के मत और यही कर लेने पर उसे अच्छे अंक भी प्राप्त हो जाते हैं। इतिहास और 'रटने' का जो संबंध स्थापित हो जाता है वह न केवल इतिहास में अरुचि पैदा करता है, इतिहास की उपयोगिता के संबंध में भी प्रश्नचिह्न खड़ा कर देता है।

विश्वविद्यालय आकर बात बहुत बनती नहीं। विद्यार्थी लड़ाइयों की तिथि और संख्या, राजाओं के लड़कों और पत्नियों के नाम और उनकी संख्या, उनकी मृत्यु और हत्या के कारण, संधियों की शर्तें आदि बता सकते हैं पर इतिहास क्या है, वे इसे क्यों पढ़ते हैं, किसी काल को आधुनिक क्यों कहा जाता है, किसी काल विशेष का आर्थिक-सामाजिक जीवन कैसा था—उत्पादन के साधनों का स्वरूप क्या था, समाज की शक्ति वास्तव में किनके हाथों में थी, वैचारिक स्तर पर कौन-सी धाराएं प्रवहमान थीं, राजसंस्कृति और लोकसंस्कृति में क्या संबंध था या क्या अंतर था, आज अतीत को याद करने की क्या आवश्यकता है—जैसे प्रश्नों का उत्तर उनके पास और अधिकांशतः उनके शिक्षकों के पास भी नहीं होता है।

शिक्षकों की स्थिति भी संतोषजनक नहीं लगती। इतिहास को व्यक्तिगत लाभ के लिए शिक्षकों ने प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक विभागों में बांट दिया। परिणामतः आधुनिक भारत के इतिहास के प्रवक्ता के लिए जरूरी नहीं है कि वह प्राचीन भारत की प्रमुख प्रवृत्तियों और घटनाओं से भली-भांति परिचित हो। उसी प्रकार प्राचीन भारत का विद्वान सिक्कों और पुरातत्व की खोजों के बारे में जानकारी रख सकता है, संस्कृत पढ़े या बिना पढ़े ही भारतीय वांग्मय से परिचित हो सकता है पर बहुत मुमकिन है कि उस स्वतंत्रता आंदोलन के विकास से अनभिज्ञ हो जिसके कारण वह अपने को स्वतंत्र कहता है या उस संविधान के बारे में उसे एकदम जानकारी न हो जिसके द्वारा वह शासित है।

भारत के बाहर की बात करें तो इतिहास पढ़ने वाला हो सकता है कि जनता हो कि मेसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यता के मूल तत्व क्या थे या कि इंग्लैंड में रक्तहीन क्रांति और फ्रांस में रक्तिम क्रांति क्यों हुई पर वह ईरान, बर्मा, श्रीलंका, चीन से निकटता या दूरी के बारे में बिल्कुल शून्य हो सकता है। जहां तक अफ्रीका और लातिनी अमेरिका का प्रश्न है, अधिकांश विद्यार्थियों के लिए नामों के अतिरिक्त उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

अंग्रेज प्रोफेसर हाल्डेन, जिन्होंने भारत को अपनी कार्यभूमि बनाया था, अक्सर कहते थे कि भारत में जाति प्रथा समाज में ही नहीं अकादमिक दुनिया में भी व्याप्त है। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में ऊंच-नीच का भाव तो है ही, कोई इतिहास की डिग्री ले ले तो जीवन-भर उसकी सीमा के बाहर की बात करने की न वह सोचता है न उसका अधिकारी माना जाता है। शिक्षा की व्यवस्था और पद्धति और प्रेरणा इतने संकुचित दायरे में सीमित हैं कि एक प्रकार की घुटन महसूस करना स्वाभाविक

है। इतिहास का पठन-पाठन और लेखन भी इसी संकीर्णता का शिकार हो तो आश्चर्य क्या?

ऐसा नहीं कि इस स्थिति से लोग परिचित नहीं पर एक प्रकार की किंकर्तव्यविमूढ़ता से ग्रस्त हैं। जो लोग कुछ करना भी चाहते हैं उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं। जैसे **बी.सी.चौधरी** ने 'जनरल ऑफ इंडियन हिस्ट्री' में एक लेख लिखा—'इतिहास-मानव एकता की प्रगति में उसकी भूमिका'। इस लेख में उनका कहना है कि इतिहास विश्व परिप्रेक्ष्य में लिखा जाना चाहिए, और यह ठीक ही है, पर वे यह कहते हैं कि ऐसा कुछ नहीं चाहिए जिससे लोगों की भावनाओं को ठेस पहुंचे और लोगों के बीच गलतफहमी पैदा हो। यही तर्क एन.सी.ई.आर.टी. की किताबों से कुछ तथ्य हटाने के संदर्भ में दिए गए हैं। समझ में नहीं आता कि इतिहासकार सुस्पष्ट वास्तविकता पर पर्दा डालकर कैसे सही इतिहास लिख सकता है। यदि वह तथ्यों के आधार पर किसी ऐसे नतीजे पर पहुंचता है जिससे किसी को ठेस पहुंच रही हो तो वह क्या करेगा? या तो वह तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करे या उस तथ्य को नजरअंदाज कर दे जिससे कोई अप्रसन्न हो रहा हो। ये दोनों ही स्थितियां इतिहास के संदर्भ में तो गलत हैं ही, इनसे अंततोगत्वा किसी का लाभ नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह कि जो लोग इतिहास की स्थिति से चिंतित हैं उनके पास भी इतिहास की स्पष्ट रूपरेखा नहीं है। अंधविश्वासी और कठमुल्ला प्रवृत्ति वालों को तो विज्ञान लगातार ठेस ही पहुंचाता है। तो क्या विज्ञान पर अंकुश लगाना चाहिए?

उन्नीस सौ सैंतालीस तक इतिहास को पाठ्यक्रमों में पूरी प्रतिष्ठा मिल चुकी थी लेकिन यह जरूरत शिद्दत से महसूस की जा रही थी कि इतिहास का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है। ऐसा क्यों था? इसे जानने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। तब तक की सबसे प्रतिष्ठित इतिहास पुस्तक 'केंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' के अनुसार यदि 1857 के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त हो गया होता तो उसके शासन के अंतिम दिनों को 'स्वर्णकाल' कहा जाता। लेखक व्यंग्य करता है कि भारत के लोगों ने कृतज्ञ होने के स्थान पर इसका उत्तर सैनिक विद्रोह से दिया। अंग्रेज लेखकों के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। **राबर्ट आर्मे, विलियम राबर्ट्सन** और **जेम्स मिल** द्वारा शुरू की गई परंपरा की ही यह एक कड़ी थी। यदि ऐसे पूर्वाग्रहपूर्ण इतिहास पर पुनर्विचार हो तो आश्चर्य ही क्या? अब तो **सी.एच.फिलिप्स** जैसे अंग्रेज इतिहासकार भी मानते हैं कि भारतीय इतिहास को वस्तुगत स्थितियों को ध्यान में रखकर फिर से लिखा जाना चाहिए।

पहले भारतीय इतिहासकार, मजबूरी में ही सही, अंग्रेजों का पिष्टपेषण ही करते थे। बाद में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रवाह में इतिहास राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर लिखा जाना शुरू हुआ और जैसा कि **बर्कहार्ट** ने लिखा है 'पूर्वाग्रह और पक्षपातपूर्ण मानसिकता सहज ही राष्ट्रवादिता का मुखौटा लगा लेती है।' दूरगामी परिणामों के संदर्भ में इससे न इतिहास का कल्याण होता है न समाज का।

इतिहासकार मनुष्य होने के नाते जब संबंधी अतीत के तथ्यों को संजोने बैठता है तो उसका पूरी तरह तटस्थ और वस्तुनिष्ठ न रह पाना स्वाभाविक है। लेकिन यदि वह अपनी मानसिकता, अपने पूर्वग्रहों और अपने विचारों के प्रति सायास और सतत सचेत नहीं रहता तो उसकी अतीत की समझ सीमित और संकुचित हो जाती है। जब भारत जैसे विस्तृत और जटिल समस्याओं वाले देश के इतिहास के पुनर्लेखन का सवाल हो, जहां तथाकथित पुनर्जागरण, राष्ट्रीय आंदोलन और फिर देश का विभाजन हुआ हो, तो इतिहासकार के पूर्वाग्रहों द्वारा इतिहास के पूरे परिदृश्य के ही गलत परिप्रेक्ष्य में बद्ध हो जोने की संभावना बनी रहती है।

भारतीय इतिहास के आधुनिक काल को राजनीति-प्रधान स्वरूप प्रदान कर दिया गया है। राष्ट्रनिर्माण और राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान इतिहास की मूलधारा को न पहचान कर उसके व्यापक और सार्वभौम स्वरूप को नजरअंदाज कर, राजनीति के सतही स्वरूप के विकास काल में राष्ट्रहित की बात करना एक आदत और नीति बन जाती है। समाज के जागरूक वर्ग इसी दिशा में कार्यरत होते हैं। ऐसी स्थिति में इतिहासकार महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है और भारतीय इतिहास ने ऐसा किया भी है।

इसी तरह भारत जैसे जाति-धर्म-प्रधान देश में अपनी निकटतम भावनात्मक इकाइयों के प्रति लगाव महसूस करनां और उसके हित के काम करने की भी प्रवृत्ति रही है। ऐसी स्थिति में भारत के आधुनिक इतिहासलेखन में कभी राजनीतिक, कभी जातीय और कभी सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों ने इतिहासकार को भटकाया है।

हर लेखन का एक वैचारिक आधार होता ही है और वह वर्ग-विशेष के हित में होता है। चाहे इसके प्रति लेखक सजग और सचेत हो या न हो। कुछ दशकों पहले तक आधुनिक भारत में लिखा गया अधिकांश इतिहास निरा तथ्यवादी रहा है और जाने-अनजाने सामंती-औपनिवेशिक मूल्यों की सेवा करता रहा है, चाहे लेखक अंग्रेज रहे हों या भारतीय। स्वतंत्रता आंदोलन के समय जब यह भावना तेज हुई कि अगर अंग्रेज भारतीय इतिहास को इस तरह पेश कर रहे हैं कि भारतीयों में हीन भाव और पराजय-बोध जागे तो देशभक्तों को इतिहास इस तरह पेश करना चाहिए कि

भारतीयों में स्वाभिमान और राष्ट्रवाद जागे। इसके लिए विविधता में निहित एकता और प्राचीन भारत के गौरव को भावनात्मक स्तर पर उजागर किया गया। राधाकुमुद मुखर्जी, के.पी.जायसवाल, ताराचंद आदि ने यह काम राष्ट्रभक्ति के नाम पर किया। इस दौर में भी ऐसी प्रस्तुति अंततोगत्वा लाभदायक नहीं सिद्ध हुई लेकिन उनका कुछ सकारात्मक पक्ष यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक लेखन के जवाब में राष्ट्रवादी लेखन की एक उपयोगिता थी। यह प्रवृत्ति 1947 के बाद भी चलती रही है और के. एम. पणिक्कर, तथा आर.सी.मजुमदार जैसे प्रख्यात लेखकों ने अपने को साफ-साफ 'राष्ट्रवादी' इतिहासकार कहा है। यह बात उनके निष्पक्ष होने के दावे पर प्रश्न खड़ा करती है क्योंकि राष्ट्रवादी को पक्ष लेना पड़ता हैं।

वास्तव में 1947 के पहले और बाद में भी ऐसे अधिकांश इतिहासकार वैज्ञानिक शोध और लेखन पद्धति और 'इतिहास क्या है, क्यों है, कैसे है' जैसे मूल प्रश्नों पर बिना सोचे और उनका एक उत्तर ढूंढ़े तथ्यों की खोज और उनकी करीने से सजावट मात्र प्रस्तुत करते रहे। उनका लिखा इतिहास भी विशिष्टों का जुलूस बना रहा। इतिहास निर्मात्री जनता और इतिहास के द्वंद्वात्मक विकास में निहित संघर्ष का इन पुस्तकों में अता-पता नहीं था। एक बात स्पष्ट हो गई थी कि इतिहास का पुनर्लेखन जरूरी है। लेकिन क्यों और कैसे की बात स्पष्ट नहीं थी। सरकारी संरक्षण और शह पर सरकारी नीतियों के अनुकूल इतिहास लिखा-लिखवाया जाता रहा जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यह कि 1947 के बाद के तीन दशकों में यही बात सामने रखी गई कि भारत को आजाद करने का श्रेय गांधी-नेहरू की कांग्रेस को है जबकि यह बात गलत ही नहीं भ्रामक भी है।

धीरे-धीरे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को पूर्णतः या अंशतः सही मानने वालों की संख्या बढ़ने लगी और जब डी.डी.कोसंबी ने प्राचीन भारत की, उसकी गाथाओं, मिथकों और सामाजिक संरचना की, भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की तो ऐसा सोचने वालों का आत्मविश्वास बढ़ा। शीघ्र ही भारतीय इतिहास के 'आर्थिक पक्ष' और 'जनता के इतिहास' को रेखांकित करने वालों का एक 'स्कूल' विकसित हो गया और आठवें दशक में विश्वविद्यालयों, इतिहास की संस्थाओं और इतिहास संबंधी नीति-निर्धारण में उसका बोलबाला हो गया। इस दौरान समाजवाद का मुखौटा लगाने वाली सरकार को इस विकास पर एतराज नहीं हुआ क्योंकि ऐसा इतिहासलेखन अभी सशक्त नहीं हुआ था, जनचेतना से जुड़ नहीं पाया था और उस चेतना को आगे ले जाने वाली शक्तियां स्वयं कमजोर थीं।

फिर भी इतना काफी था और देश के पुरातनपंथियों, रूढ़िवादियों और संकीर्ण विचार के लागों ने ऐसे विकासक्रम का यथासंभव विरोध करना शुरू किया। इतिहासलेखन के क्षेत्र में इस प्रवृत्ति का सबसे संगठित प्रयास 'भारतीय विद्या भवन' के माध्यम से हुआ और सबसे भोंडा और खतरनाक प्रयास ओक नामधारी व्यक्ति द्वारा औरों की डोर पर संचालित 'इतिहास पुनर्लेखन संस्थान' के माध्यम से हुआ जो साबित करने पर आमादा है कि भारत की, संभव हो तो सारी दुनिया की, हर चीज का मूल हिन्दू है।

वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में भारतीय समाज में अंदर से अधिकांश व्यक्ति साम्प्रदायिक होते हैं। इसलिए इस तरह के सांप्रदायिक इतिहास का प्रचार बढ़ता गया है और अजीब विडम्बना बढ़ती गई है। कक्षा में भारतीय विद्यार्थी सीखता है कि चंद्रग्रहण इसलिए होता है कि सूरज और चांद के बीच पृथ्वी आ जाने से उस पर छाया पड़ जाती है और घर में यह सीखता है कि चंद्रमा को राहु-केतु लील लेते हैं इसलिए चंद्रग्रहण लगता है और इसी व्याख्या पर उसका अधिक विश्वास होता है। उसी प्रकार वह इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में यह पढ़ता है कि ताजमहल शाहजहां ने बनवाया और पत्र-पत्रिकाओं में यह पढ़ता है ताजमहल एक राजपूत का महल है और हिन्दू हुआ तो दूसरी बात को सही मानता है और मुसलमान हुआ तो क्षुब्ध या कुंठित हो जाता है। यह प्रवृत्ति हर इमारत, हर उपलब्धि को अपनी विशिष्ट इकाई से जोड़कर देखने और गौरवान्वित होने को प्रोत्साहित करती है, सब अच्छा 'अपना' और सब बुरा 'दूसरों' का सिद्ध करने की मानसिकता बनाती है। यह प्रवृत्ति इसलिए बनी हुई है और बढ़ती जा रही है कि वैज्ञानिक समझदारी के व्यापक प्रसार को न वैज्ञानिक महत्व देता है न इतिहासकार। न तो विज्ञान जनोन्मुख है न इतिहास।

विडंबना तो यह है कि इनमें से अधिकांश इतिहासकार तथ्यों को सर्वोपरि बताते हुए भी किसी जाति, धर्म, क्षेत्र या व्यक्ति विशेष की वकालत करते हैं, सायास या अचेतन ढंग से। इसलिए इनका लिखा इतिहास प्रायः न तो वस्तुगत होता है, न वैज्ञानिक, न निरपेक्ष।

दोनों ही ओर बहुत से ऐसे शोधकर्ता और इतिहासकार हैं जो मासूम, अनिश्चिय के शिकार ढुलमुल और कमजोर होने के कारण कोई स्टैंड नहीं ले पाते और हवा का रुख देखते रहते हैं। इनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है। वक्त आ गया है कि सही इतिहासलेखन में बढ़ रहे ध्रुवीकरण को और स्पष्ट तथा तेज किया जाए।

सही इतिहास न राजनीति की प्राथमिकता है न उसको नकारना। सही इतिहास

न आर्थिक आधार को काटना है न उसे ही एकमात्र आधार मानना। सही इतिहास न व्यक्ति को नायक मानता है न व्यक्ति की भूमिका को नकारता है।

अगर करीब से भारतीय इतिहास पर नजर डालें तो इतिहास को हिन्दू, मुसलमान जैसे धार्मिक चश्मों से देखना तो गलत है ही, केवल यांत्रिक ढंग से आर्थिक आधार को ही सब कुछ मानकर सांस्कृतिक-धार्मिक तत्वों की भूमिका को नकारना भी गलत हैं। भारतीय इतिहास में भी मूलतः विकास की प्रक्रिया द्वंद्वात्मक और अर्थतंत्र में संघर्ष के माध्यम से विकासमान तत्त्वों पर आधारित रही है। लेकिन इसमें जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय, जन-जातीय आदि तत्वों ने सूक्ष्म परंतु महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इनको एकदम नकारना समझदारी को बाधित ही करेगा। और केवल आर्थिक संदर्भ में इतिहास की व्याख्या एकांगी हो जाएगी।

सही इतिहासलेखन व्यक्ति नहीं प्रवृत्ति पर जोर देगा लेकिन वह व्यक्ति की भूमिका को भी स्वीकार करेगा। वह कांग्रेस की स्थापना का श्रेय ह्यूम को नहीं देगा लेकिन ह्यूम नामक व्यक्ति की अपनी भूमिका को भी स्वीकारेगा। वह प्रथम महायुद्ध के बाद से 1947 तक इतिहास को नेहरू, पटेल, सुभाष, गांधी का जीवन-चरित्र नहीं समझेगा, लेकिन वह इनकी विशेष सही-गलत भूमिकाओं को भी नहीं नकारेगा। वह बंगाल के विभाजन को कर्जन की बदमाशी भी नहीं मानेगा और साम्राज्यवादी चाल कहकर कर्जन के रोल को भी नहीं नकारेगा। 1947 में मिली राजनीतिक आजादी को वह न तो केवल राष्ट्रीय आंदोलन की अनिवार्यताओं, स्थिति, घटना, की परिणति बल्कि व्यक्ति आदि की विशिष्ट भूमिकाओं को भी स्वीकारेगा। उसका निरूपण यांत्रिक नहीं वैज्ञानिक होगा। इसलिए वह आर्थिक भूलाधार को रेखांकित करने के साथ सुपर स्ट्रक्चर (ऊपरी ढांचा), राजनीति, साहित्य, कला, संस्कृति, जीवन-मूल्य, धर्म, जाति और लिंग आदि की जटिलताओं और बारीकियों को भी उनका उचित प्रासंगिक स्थान देगा। 'सही इतिहास के निर्माता' कुछ लोग नहीं होंगे जैसा कि विभिन्न खेमों के अधिकांश इतिहासकार करते हैं, बल्कि इतिहास में स्थितियों के विकास के साथ भयानक कठिनाइयों में जूझता संघर्षरत और विजयोन्मुख व्यापक मेहनतकश जन, मजदूर और किसान की तस्वीर उभरेगी। सही इतिहास मात्र तिथियों, नामों और कारनामों की भूलभुलैया नहीं होगा जैसा कि अधिकांश इतिहासकार करते हैं, बल्कि किसी देशकाल की स्थिति में निहित मूल्य अंतर्विरोध और संघर्षों के स्वरूप और उनसे निकलती राह का निरूपण होगा।

उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का इतिहास 1857 या 1885 में नहीं शुरू होगा। उसके झंडाबरदार रानी झांसी, गोखले, तिलक, गांधी, नेहरू, अंबेडकर,

चंद्रशेखर आजाद और भगतसिंह आदि ही नहीं होंगे। उनमें 'कमल और रोटी' की रास्तान, खिलाफत या भारत छोड़ो आंदोलन या असेम्बली में बम फोड़ने के कारनामों को लेकर लफ्फाजी नहीं होगी। सही इतिहास भारतीय पूंजीपति वर्ग के जन्म और विकास या ट्रेड यूनियन के जन्म और विकास को रेखांकित करके ही नहीं संतुष्ट हो लेगा।

राष्ट्रीय आंदोलन का सही इतिहास तत्कालीन ब्रिटिश उपनिवेशवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के मूल अंतर्विरोध को केन्द्र में रखेगा लेकिन दोनों का अपना जटिल विकास या और इस विकास में विभिन्न घटकों के परस्पर द्वंद्व-संबध, उनकी आपस में और एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया को भी उजागर करेगा। वह ब्रिटेन की भारत के प्रति नीति की और भारत की बढ़ती चेतना और मुक्ति संग्राम में सक्रिय विभिन्न वर्गों की नीतियों को स्थानीय और परस्पर संदर्भ में ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय विकासक्रम के बीच भी रखकर देखेगा। वह राष्ट्रीय आंदोलन को एक समरूप और रेखीय विकास की तरह नहीं बल्कि विभिन्न तत्वों के कभी निकट आते और कभी परस्पर विरोधी होते हितपूर्ति के प्रयत्नों और उन पर एक साथ और अलग-अलग प्रभाव डालते बाहरी हितों की भूमिका के बीच मुक्ति की आकांक्षा के बढ़ते आधार के रूप में प्रस्तुत करेगा। सही इतिहास सैंतालीस में प्राप्त आजादी को जीत-हार और परिणति या प्रारंभ मात्र के रूप में नहीं देखेगा।

सामान्य व्यक्ति इतिहास की समस्याओं से तभी परिचित हो पाता है जब कुछ असाधारण घटता है और उसका ध्यान आकर्षित होता है, जैसे जब अखबारों की सुर्खी में कुछ पुस्तकों पर प्रतिबंध लगता है या किसी खास विचारधारा के इतिहासकारों को परेशान किया जाता है या कभी-कभी नौकरी से निकाल तक दिया जाता है। सामान्यतः जब इतिहास से ही लगाव नहीं है तो इतिहासकार और इतिहासलेखन को लेकर उठे विवादों से क्या सरोकार?

इस घातक अरुचि का एक सबसे स्पष्ट कारण है स्कूलों से विश्वविद्यालयों तक विशेषकर स्कूलों के स्तर पर गलत ढंग से दी जाने वाली इतिहास की शिक्षा। आज भी विद्यार्थी को इतिहास महापुरुषों की गाथा या चमत्कारी घटनाओं का क्रम लगता है। वह राम-कृष्ण की गाथाओं और पुराण कथाओं को इतिहास और इतिहास को गाथा के रूप में लेने लगता है। पुराण और इतिहास में वह भ्रमित रहता है। उसे इतिहास में भरत-मिलाप या छब्बीस जनवरी की परेड की झांकियां, एक तरह का तमाशा, देखने का मजा आता है। तमाशा तो तमाशा होता है। उसे कहना पड़ता है कि कौन शासक महान हुआ, कौन-सा काल स्वर्णकाल था, किस राजा का परिवार-

दरबार कैसा था, कितनी लड़ाइयां और संधियां हुईं। बस इस इतिहास में वह अपने को, अपने जैसों को नहीं देखता। वह अंत तक नहीं जान पाता कि वह इन तथ्यों को क्यों जान रहा है। उन्हें न भी जानता तो क्या नुकसान था?

दूसरा सबसे बड़ा कारण है इतिहास संबंधी सुरुचिपूर्ण, सरल और प्रासंगिक लेखन का अभाव। अधिकांश इतिहास पुस्तकों को उठाइए तो उनमें बस नाम और तिथियां नजर आएंगी। इस अम्बार के नीचे दबा इतिहास कराहता रहता है। एक विदेशी इतिहासकार ने भारत की इतिहास पुस्तकों को टेलीफोन की डायेक्टरी कहा था। क्या गलत कहा था? लेकिन डायरेक्टरी का तो एक इस्तेमाल है पर जैसे बोरे में आलू भर देते हैं वैसे ही इतिहास की पुस्तकों में तथ्य और तिथियां ठूंस दी जाएं तो उसका क्या इस्तेमाल होगा?

दूसरी बात यह है कि जनता को केन्द्र में रखकर इतिहास अभी हाल में ही लिखा जाना शुरू हुआ है लेकिन जनता के लिए इतिहास कहां है? कुछ देशों जैसे फ्रांस में इतिहास की इतनी लोकप्रिय पत्रिकाएं निकलती हैं कि उन्हें भी सामान्य पाठक उसी रुचि के साथ खरीदता है जिस रुचि के साथ मनोरंजन करने वाली पत्रिकाओं को। इनमें इतिहास के आधिकारिक जानकार लिखते हैं और इस तरह लिखते हैं कि पाठक आकर्षित हो, पढ़े और समझे। हमारे देश में अब तो अधिकांश विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में इतिहास पढ़ने वाले छात्रों में कमी हो रही है और उनमें अच्छी पुस्तकें पढ़ने की आदत में तो भारी कमी आई है। अब विद्वानों की पुस्तकें अधिकतर अक्षरशः धूल चाटती हैं। ज्यादातर सामान्य पढ़े-लिखे लोग आठवीं कक्षा में ही इतिहास को दफन कर देते हैं। फिर कभी-कभार उनका इतिहास से साक्षात्कार बाजारू रंगीन पत्रिकाओं में होता है जिसमें इतिहास को रूमानी, सनसनीखेज और संकीर्ण ढंग से पेश किया जाता है। वहां परी महलों का रंगीन माहौल या किसी स्वतंत्रता सेनानी की प्रशस्ति होती है। अधिकांश पढ़े-लिखे लोग भी अंत तक किंवदंती, गाथा, पुराण और इतिहास में अंतर नहीं कर पाते।

एक बात और। शासकों द्वारा लाख कोशिशों के बावजूद कि अंग्रेजी का वर्चस्व बना रहे, सभी भारतीय भाषाओं के साथ सौतेला व्यवहार करने और एक विदेशी भाषा को पोषित करने के षड्यंत्र के बावजूद, दूर-दराज के कस्बों और शहरों के मुहल्ले-मुहल्ले 'इंगलिश मीडियम' स्कूल खोलने के बावजूद, अंग्रेजी बोलने को विशिष्टता के प्रमाण के रूप में स्थापित करने के बावजूद, अंग्रेजी समझने वालों की संख्या गिर रही है। भारतीय भाषाओं में ही लिखने-पढ़ने और सोचने वालों की संख्या बढ़ रही है। पर उनमें उपयुक्त साहित्य का अभाव पूरा करने का प्रयास अपर्याप्त और

दिखावटी है। हमारा विश्वास है कि जब तक इस देश की भाषाओं में पढ़ना-लिखना-सोचना निर्णायक नहीं हो जाता जब तक राजनीति और सांस्कृतिक क्षेत्र में गुलाम मानसिकता के कुछ लोगों की बपौती चलती रहेगी। इसी प्रकार हम यह भी समझते हैं कि इतिहासबोध जनचेतना का आधार होता है। इतिहास की प्रयोगशाला में ही रास्तों की खोज होती है। इतिहास एक विषय नहीं एक पहचान है। जैसे हर व्यक्ति के लिए विज्ञान की मोटी-मोटी जानकारी जरूरी है उसी तरह इतिहास की भी।

ऐसे में एक ही साथ दो काम जरूरी हैं— (1) इतिहास को सही ढंग से समझना-समझाना, पढ़ना-पढ़ाना और इतिहासबोध की अनिवार्यता को स्पष्ट करना और (2) इतिहास को उसके नाम पर हो रहे बकवास से अलग करना।

जीवन में प्रायः हम किसी बात या काम के एक ही पहलू को देखते हैं और उसी के अनुसार काम करते हैं। उदाहरण के लिए, हम सच बोलना सही और जरूरी समझते हैं पर साथ ही झूठ के प्रतिकार को इसी काम का अविभाज्य अंग नहीं समझते हैं। हम 'सुन्दर' से प्यार करते हैं पर 'असुंदर' से घृणा नहीं करते। इसके विपरीत हम 'बुरे' की 'बुराई' तो करते हैं पर 'अच्छे' की 'अच्छाई' नहीं करते। यानी हम चीजों और स्थितियों की द्वंद्वात्मकता को नहीं समझते और तदनुकूल काम नहीं करते। जरूरी यह है कि दोनों पहलुओं को बराबर महत्व दिया जाए। देशकाल विशेष में कोई एक कुछ समय के लिए अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है पर एक-दूसरे के बिना अपूर्ण, अप्रभावी और अस्थायी होगा। इसीलिए हमें सच-झूठ, सुन्दर-असुन्दर और अच्छे-बुरे को एक-दूसरे से अनिवार्य और अविभाज्य रूप से जोड़कर देखना चाहिए और दोनों दिशाओं में काम करना चाहिए यानी सच के स्वीकार और झूठ के नकारने का काम साथ-साथ करना चाहिए, सुन्दर से प्यार करना ही पर्याप्त नहीं है असुन्दर से घृणा भी करना चाहिए और अच्छे के प्रति सकारात्मक और बुरे के प्रति नकारात्मक रुख अख्तियार करना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में नया परिप्रेक्ष्य, नई समझ, नया प्रोत्साहन और नई ऊर्जा देगा। ऐसा करना व्यवहार, नैतिकता और सौदर्न्यबोध की दृष्टि से सही और सकारात्मक है।

इसी परिप्रेक्ष्य में हम इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि इतिहास को आगे बढ़ाने का काम अनिवार्य अंग है, जरूरी है उसके नाम पर हो रहे बकवास को नकारना, समाप्त करना और ऐसी स्थिति पैदा करना कि बकवास न पैदा हो सके, न पनप सके।

अंत में सार संकलन में यही कहा जा सकता है कि वह इतिहास—जो केवल बंगाल, दिल्ली या अधिक-से-अधिक भारत के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया हो जो यह

स्पष्ट न कर सके कि विज्ञान और विचारों के क्षेत्र में अग्रणी भारत कैसे संकीर्णता के गर्त में घंसता गया, जो भारत में अंग्रेजी 'राज' को केवल सतह पर रखकर नैतिक मूल्यों के आधार पर (बिना जाने कि नैतिक मूल्य भी सापेक्ष होते हैं) निर्णय लेता हो, जो राष्ट्रीय संग्राम को मुक्ति गाथा के रूप में केवल भावना के स्तर पर प्रस्तुत करता हो, जो यह न बता सके कि 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' लिखने वाले अल्लामा इकबाल कैसे पाकिस्तान के 'वैचारिक जनक' बन गए, जो यह न स्पष्ट कर सके कि भारतीय मुस्लिम नेताओं में सबसे आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष जिन्ना, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के मुखर एवं दृढ़ समर्थक थे, कैसे एक इस्लामी राज्य पाकिस्तान के राष्ट्रपिता हो गए- वह कभी सही अर्थों में इतिहास कहलाने का हकदार नहीं होगा।

वह इतिहासकार जो इतिहास लिखने की प्रेरणा, प्रोत्साहन और संरक्षण निहित स्वार्थ के आधार पर अपने और इतिहास के बाहर ढूंढ़ता है, अपने परिवेश से पूरी तरह परिचित नहीं है, मानव के विकास की 'धारा' को नहीं पहचानता, परिवर्तन के मूल में निहित संघर्ष और उसके द्वन्द्वात्मक स्वरूप को नहीं समझता और उजागर करता, जो मानव के प्रगति की ओर निरंतर बढ़ते कदमों की छाप नहीं पहचानता, वह भी इतिहास के साथ न्याय नहीं कर सकता। ऐसा लेखन न तो इतिहास के मानदंडों पर खरा उतरेगा, न उसका ही भला करेगा, जिसके हित को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

आजकल भारतवर्ष में इतिहासलेखन और जो कुछ लिखा गया है, उसके पुनर्लेखन की एक साथ बात की जा रही है। जहां जाति, धर्म और राष्ट्र के नाम पर अनेक ग्रंथियां बनी हुई हैं और खतरनाक तौर पर बढ़ रही हैं, पूर्वाग्रह संजोए गए हैं, 'इतिहासबोध और इतिहास दृष्टि' का अभाव रहा है, जहां इतिहासलेखन की स्वस्थ और वैज्ञानिक परंपरा का प्रारंभ ही हुआ है, जहां न इतिहास को प्रासंगिक समझा जाता है न इतिहासकार को और इसलिए दोनों को उचित प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है, वहां इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने, उसे उपयोगी और प्रासंगिक बनाने, या यूं कहें कि इतिहास को उसका उचित और सही स्थान दिलाने के लिए जरूरी है कि वैज्ञानिक शोध प्रणाली, व्यापक सैद्धांतिक तैयारी और सामान्य जन से सहज और जागरूक जुड़ाव के आधार पर जनता के लिए जन-इतिहास लिखा जाए।

6. जन मानस में दर्ज इतिहास

जन मानस में अतीत उसी तरह दर्ज नहीं होता जिस तरह इतिहास की पुस्तकों में किया जाता है। सामान्य जन किंवदंतियों, गाथाओं, आख्यानों और यहां तक कि मिथकों को भी इतिहास ही समझता है। पंजाब के लोकगीतों में 'भगत सिंह की नार' एक हकीकत है, इतिहास उस पर ध्यान दे न दे।

आदमी तो राही है चलता रहा है, और चलता रहेगा। चलते, ढूंढ़ते और भटकते पांवों के नीचे न जाने कितनी सफलताओं-असफलताओं, आशा-निराशा, साहस-दुस्साहस, संघर्ष-उत्कर्ष, लगन और महत्वाकांक्षा की कहानियां दबी पड़ी हैं। एक दूसरा आदमी उन्हीं पदचिह्नों की धूल छानता हुआ उसी रास्ते लौटता है। सफलता-असफलता की किनती ही पहेलियां, कितनी ही गुत्थियां उसे बिखरी मिलती हैं और वह इन सबको संजोता है। नीर-क्षीर विवेक द्वारा उन्हें तौलने की कोशिश करता है। तथ्यों को शोध की आग में तपाता है और दुनिया उसे इतिहासकार कहने लगती है।

हेरोदोतस से इब्न खल्दून तक इतिहास को व्यापक और निष्पक्ष बनाने के प्रयत्न असफल होते रहे। उस दिन को बीते अधिक दिन नहीं हुए जब इतिहास शासकों की शतरंजी चालों की तालिका हुआ करता था। उनके स्वार्थ, शोषण और संघर्ष की अगणित घटनाएं और उनके बीच कभी किसी की उदारता या प्रजाप्रेम, कला और साहित्य के संरक्षण में अभिरुचि ही इतिहास का विषय हुआ करती थी।

आज हम मानते हैं कि इतिहास एक प्रयोगशाला है, एक संग्रहालय है जिसमें उन तमाम रास्तों के नक्शे और अनुभवों के अभिलेख सुरक्षित हैं जिन पर आज तक आदमी चलता रहा है कदमों से, दिल से, दिमाग से। इनमें से कितने ही शुरू के पन्ने विस्मृति की आंधी में उड़ गए हैं, कितनों पर अस्पष्टता के जाले लग चुके हैं। इन्हीं के अंबार में खोकर इतिहासकार खोये को ढूंढ़ता है और कल का आज के लिए क्या संदेश है, क्या उपयोगिता है, क्या प्रासंगिकता है, उसे अपने ढंग से जानने की चेष्टा करता है। किंतु खोज का मार्ग प्रायः अवरुद्ध दिखाई देता है। कहीं-कहीं तो सत्य किंवदंतियों, अनुश्रुतियों और गाथाओं के रेगिस्तानों में खो-सा गया है। कभी-कभी दूर भटकती हुई सत्य की छाया ही के सहारे उसे ढूंढ़ निकाला जाता है। लेकिन जब छाया ही मृगमरीचिका बन जाती है तब कदाचित् हताश होना पड़ता है पर क्षितिज के उस

पार क्या है — यह जिज्ञासा अकर्मण्य नहीं होने देती और आगे बढ़ने के आदी पांव आंदोलन कर देते हैं और इस तरह सत्य की खोज निरंतर चलती रहती है।

इतिहास ने हमेशा शासकों की सेवा की है और करता रहेगा। पर किंवदंतियां और गाथाएं लोकमानस से उपजती हैं। लोक की मानसपुत्री होने के कारण वह बहुत प्रिय, अंतरंग और अपरिहार्य होती हैं। उनमें जनता का दुःख-दर्द, लालसाएं, सपने, सब कुछ अभिव्यक्त होता रहता हैं। वे जन्में भले ही किसी एक व्यक्ति के मन में परंतु होती हैं एक समूह के सामान्य अवचेतन की उपज और एक मुंह से दूसरे तक की यात्रा के दौरान ही उनका रूप संवरता है। उन पर किसी जालिम की नहीं चलती। उन्हें कोई बंद या निर्वासित नहीं कर सकता। उनके समानांतर कृत्रिम ढंग से दूसरी भी आरोपित की जाती रही हैं, पर खोटे सिक्के हर जगह नहीं चलते।

इसके विपरीत शासक और विजेता इतिहास को तलवार-बंदूक से भी अधिक कारगर हथियार मानते हैं। किसी देश की मानसिकता बदल देने में इतिहास की बहुत बड़ी भूमिका है। इसीलिए प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से हर शासक अपने अनुकूल इतिहास लिखवाने की कोशिश करता है। जब इतिहास को विकृत किया जाता रहा हो तो किंवदंतियां और गाथाएं अपने में कुछ तो सत्य बचा ले जाती हैं जिसे जनविरोधी शक्तियां विकृत नहीं कर पातीं।

इसका यह मतलब कतई नहीं है कि हम इतेहास के विरोध में किंवदंतियों और गाथाओं को खड़ा कर रहे हैं पर हम यह जरूर जोर देकर कहना चाहते हैं कि इतिहास-लेखन में किंवदंतियों और गाथाओं की भूमिका को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। लोकमानस जिन रूपों में घनीभूत होकर अभिव्यक्ति पाता है उनमें किंवदंतियां और गाथाएं महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इतिहास में जिन भी स्रोतों का प्रयोग होता है वे सायास प्रयास की उपज होते हैं। इसलिए वे समाज की कृतियों, सफलताओं-असफलताओं की छवि तो प्रस्तुत कर पाते हैं पर जनमानस का सहज, अंतरंग परिचय तो लोकोक्तियों, किंवदंतियों और गाथाओं में ही मिलता है।

किंवदंतियों और गाथाओं में भी अंतर होता है। किंवदंतियां तात्कालिक उद्रेक होती हैं, उनमें सत्य पूरी तरह समन्वित नहीं होता। गाथाएं रचना बन जाती हैं और उनमें सत्य कलात्मक रूप से समन्वित हो जाता है, इसलिए वे पूरी तरह गल्प या पूरी तरह इतिहास लगने लगती हैं।

ऐतिहासिक सत्य पर हावी किंवदंतियों और गाथाओं का लोक-संस्कृति से गहरा संबंध है। इनकी लोकप्रियता और विस्तार तथा उत्पत्ति का स्रोत और क्रम बड़ा मनोरंजक है। अकस्मात् विनोद में कही हुई बातें दावानल की तरह फैल जाती हैं और

समय के साथ अपना स्थायी स्थान बना लेती हैं। उदाहरण के लिए, कभी किसी व्यक्ति, ग्राम या नगर विशेष को आशातीत सम्मान और सफलता प्राप्त हो जाती है और उसकी क्षमता तथा दाता की उदारता को अतिशयोक्ति के सहारे प्रभावोत्पादक बना दिया जाता है। प्रशंसा में गाए गए लोकगीतों का यही आधार होता है। जहांगीर की प्रणय गाथा की नायिका, किसी कबीले या गांव की सुकुमार अल्हड़ छोकरी अनारकली ने किसी यात्रा में रसिक सलीम को क्षणभर के लिए मुग्ध कर लिया होगा और हिंदुस्तान के राजकुमार की कृपादृष्टि वरदान बन गई होगी, न केवल उस परिवार वरन् संपूर्ण जनपद के लिए और पीढ़ियों के साथ घटना का विस्तार होता गया होगा और प्रेम की परंपरागत गाथाओं—हीर-रांझा, शीरी-फरहाद, रोमियो-जूलियट के क्रम में जुड़कर अनारकली-सलीम की प्रणय-गाथा प्रचलित हो गई होगी। तभी तो **तुजुके जहांगीरी** और **सर टामस रो** और **फिन्च** की डायरियों में इन घटनाओं का उल्लेख मिले न मिले लाहौर में अनारकली आज भी जिंदा लगती है। विभिन्न कहानियों, कविताओं और फिल्मों के माध्यम से वही गाथा लोकमानस पर इतिहास की तरह अंकित होती जा रही है।

समाज के अग्रणी व्यक्तियों के विषय में भी प्रायः असाधारण बातों का प्रचार हो जाता है, बड़े ही स्वाभाविक ढंग से। मानव-स्वभाव और उसकी नैसर्गिक कमजोरियों का सहारा लेकर छायाएं सत्य को आच्छादित करती हुई बढ़ती रहती हैं और मनुष्य जो वास्तविक जगत में नहीं प्राप्त कर पाता वह इस गाथा जगत में पा लेता है।

मनोवैज्ञानिक स्तर पर किंवदंतियों और गाथाओं का सबसे उर्वर स्रोत 'कलेक्टिव अनकान्शस' हुआ करता है। जाति-विशेष की अभिलाषाएं जो परिस्थिति-विशेष में अपूर्ण रह जाती हैं और जिन्हें उचित अभिव्यक्ति और संतोष नहीं प्राप्त हो पाता, कालांतर में चुपके से ऐसे रास्ते ढूंढ़ निकालती हैं जिन्हें सहज स्वभाव मानव स्वीकार कर लेता है और उसकी रागात्मक प्रवृत्तियां उन्हें संजो लेती हैं, सदा-सदा के लिए, और वह जाति अपनी इस काल्पनिक सफलता पर ही इतरा कर अपने अहं की प्यास बुझा लेती है। यूनान का वह पराक्रम, 'होमर' ने जिसके गीत गाए हैं, यूनानियों की महत्वाकांक्षाओं और आदर्शों का ही प्रतिबिंब है। इस कल्पित वैभव की अतिशयोक्ति थूसीदीसस ने ट्रोजन युद्ध और हेलेन की प्रणय कहानियों को वास्तविक बता कर सिद्ध कर दी है। गाथा और इतिहास का अंतर होमर और थूसीदीसस द्वारा एक ही विषय पर लिखे गए काव्य और इतिहास में स्पष्ट हो जाता है।

मनुष्य की भावुकता और उसकी धार्मिक भावना ने तो ऐसे अगणित अवसर प्रदान किए हैं जब मनुष्य ने किंवदंतियों का सहारा लिया है। धर्म मनुष्य की शक्ति

बना होगा पर यह कितनी बड़ी विडंबना है कि धर्म के ही नाम पर भगवान और शैतान दोनों ही पूजे जाते हैं। धर्म के सांचे में ढली हुई कहानियां इतनी खूबी से मनुष्य के स्वार्थ और शोषण का साधन बन जाती हैं कि स्थान-विशेष में उनके चारों ओर पवित्रता का प्रकाशपुंज जगमगाने लगता है। हर धर्म का वह वर्ग जो ईश्वर और मनुष्य के बीच की कड़ी बन बैठता है, इनसे बहुत फायदा उठाता है।

आदमी की कल्पना व्यापक होते हुए भी प्रारंभ में सूक्ष्म नहीं हो पाती इसीलिए दार्शनिक सत्य को पहले गल्प का ही रूप मिल पाता है और जब उनकी सूक्ष्म व्याख्या होती है तब कहीं इनका रूप स्पष्ट हो पाता है। भारतीय धर्म कथाओं की श्रेष्ठता और सार्थकता जिन्हें **शोपनहार** ने भारतीय जीवन की सारी मान्यताओं, उपलब्धियों और जीवन के ध्रुव सत्यों से ओतप्रोत पाया था, इसी तथ्य की पुष्टि करती है। भारत ही नहीं यूनान के भी ऋषियों और विद्वानों की सत्योक्तियों ने कल्पना और अनुभव के संश्लेषण के परिणामस्वरूप गाथाओं के ही रूप में जन्म लिया था। जीवन के मृदु और कटु क्षण की सहज प्रवृत्ति अनायास अपनी सारी कटुता, सारा कलुष, सारा संघर्ष और जिजीविषा किसी ऐसे वास्तविक या काल्पनिक चरित्र में आरोपित कर देती है जिसकी प्रिय-अप्रिय स्मृति मनुष्य के मन के सूनेपन में गूंजती रहती है और इस तरह रावण, शैतान या डेविल और राम का जन्म होता है। प्रिय की विजय मनुष्य स्वभावतः चाहेगा। परिष्कृत और परिमार्जित गुणों के आधार पर वह फिर ऐसे भी चरित्रों का निर्माण करता है जो मानवेतर शक्ति और दिव्यता के कारण उस दुश्चरित्र पर विजयी होता है और इस प्रकार अच्छे की बुरे पर, मृदु की कटु पर और पुण्य की पाप पर विजय होती है। कम-से-कम कल्पनाओं में, भले ही यथार्थ में न होता हो, समष्टि अपना अभिप्रेत संतोष पा लेती है। यह प्रक्रिया हर युग में दोहराई जाती है और जब विजय की यह भावना पुष्ट हो जाती है तब आत्मविश्वास का शंखनाद होता है।

राजपूत जाति के मूल स्रोत के बारे में **कर्नल टॉड** की खोज ने यह स्पष्ट किया है कि सबसे लोकप्रिय मत वह है जिसमें राजपूतों का जन्म उस यज्ञ से माना गया है जिसे स्वयं ब्रह्मा ने हिमालय की उपत्यका में संपन्न किया था। किंतु सत्य कुछ और है जिसे उन्हीं के शोध ने सिद्ध कर दिया है। मध्य एशिया की वे आक्रामक जातियां, जिन्होंने चीन के समुन्नत ऐश्वर्य और महती रोमन शक्ति की सत्ता को धूलधूसरित कर दिया था, जिनकी बर्बर मशालों ने स्पेन से चीन की दीवार तक का प्रदेश धू-धू करती लपटों में मुंह में झोंक कर प्रलय का सामान जुटा दिया था- भारत में सांस्कृतिक रूप से पराजित हो गईं। पर उन्हें पराजित घोषित करना विवेकपूर्ण नहीं था। उन्हें समाज में उचित ही नहीं अपितु उनकी शक्ति के अनुकूल स्थान मिलना था। उन्हें राजपुत्र

कहकर सम्मानित किया गया। किंतु इस योजना को मान्यता कोई धार्मिक व्याख्या ही दे सकती थी और नियोजकों ने उसे भी ढूंढ़ निकाला। आज किसी को उनकी भारतीयता में संदेह नहीं होता। यही है गाथाओं का कमाल।

यह नुस्खा बहुत पुराना है। वैदिक आडंबर से त्रस्त जनता को जब महात्मा बुद्ध ने 'सरल और सुगम' मध्यम मार्ग की सूझ दी तो भारत के कोने-कोने में 'बुद्धं शरणं गच्छामि' , 'धम्मं शरणं गच्छामि', 'संघं शरणं गच्छामि' के गूंजते स्वरों में वैदिक मंत्र डूबने लगे। अशोक की प्रियदर्शिता ने ऐसे लोकधर्म को जन्म दिया जिससे पुरानी मान्यताएं खतरे में पड़ गईं। गाथाओं का जाल बुना गया और बुद्ध विष्णु के अवतार बना दिए गए। जब तक बुद्ध की ऐतिहासिक वास्तविकता का पता चला तब तक बौद्ध धर्म भारत में समाप्तप्राय हो चुका था।

युग बदला। अज़ानों और मंत्रों की टकराहट में ऐसा लगा कि भारत टूक-टूक हो जाएगा। झंझा के शांत होते ही नानक, कबीर और चैतन्य के स्वर गूंजे। बढ़ती उदारता को राजनीतिक स्वरूप प्रदान करने वाले अकबर का प्रादुर्भाव हुआ। आज के अर्थों में धर्मनिरपेक्ष राज्य में अमन-चैन बढ़ा। फ़तेहपुर सीकरी, तानसेन, अब्दुस्समद और लाल, रहीम और दीन-ए-इलाही के संरक्षक और प्रणेता, अपने समय के सफलतम और कुशलतम शासक अकबर की धमनियों में चंगेज खान और तैमूर का खून बहता होगा, इसे स्वीकार करना तनिक अप्रिय लगा और विस्मित भारत को वह मानवेतर प्रतीत होने लगा। गाथाओं ने जोर मारा। अल्लोपनिषद की रचना की गई, गाथा गढ़ी गई। सफल हो न हो पर बेचारा अकबर काफिर ही नहीं बुत होते-होते बचा, इतिहास की हार होते-होते रह गई।

व्यक्तिगत, जातिगत या देशगत तथा कभी-कभी सांप्रदायिक द्वेष द्वारा फैलाए हुए प्रचार अबोध जनता के लिए सत्य बन जाते हैं। भारत भ्रमण के वर्णन ऐसी घटनाओं से भरे पड़े हैं जिन्हें यात्रियों ने सुनकर सुरक्षित कर डाला है। इब्न बतूता ने राजधानी परिवर्तन के समय लंगड़े को अंधे की पीठ पर बैठकर यात्रा करते हुए दिखा कर मुहम्मद तुगलक की जो मिट्टी पलीद की है या मुगलकालीन यात्रियों ने सलीम की अय्याशी और न्यायप्रियता के जो चित्र खींचे हैं उनमें उनका उतना दोष नहीं है जितना उस समय प्रचलित किस्सों का है जो अनुकूल परिस्थितियों में गाथा बन जाते हैं।

कपोल कल्पित कथाओं ने यूरोपीय इतिहास की भी धाराएं न जाने कितनी बार अनिश्चित दिशाओं में मोड़ दी हैं। नेपोलियन का विवादस्पद इतिहास ऐसी गाथाओं से भरा पड़ा है। जैसे ही उसका भाग्य-नक्षत्र फ्रांस के क्षितिज पर चमका, यूरोप के

अन्य सभी राजघराने आशंकित हो उठे। इधर स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के तराने गाती हुई नेपोलियन की अजेय सेना रूढ़िवादिता का गला घोंट रही थी और दूसरी और मानवतावादी शक्तियां संतोष की सांस ले रही थीं कि युग-युग की त्रस्त कराहें अब सुख और समृद्धि के संगीत में बदल जाएंगी। दुश्मन देशों के भी कलाकारों ने नेपोलियन की दुंदुभी बजाई। **गेटे** और **बीथोवन** ने भी प्रेम और श्रद्धा से फ्रांस की इस अपरिमत शक्ति का अभिनंदन किया। पर जब खुद उसने ही सम्राट बनकर रूसो के आदर्शों को सपना साबित कर दिया और जैकोबिन शक्तियों की कब्रें बनने लगीं तो उसके भक्तों के भी पैरों के नीचे से जमीन खिसकने लगी। और फिर एक ऐसा दौर आया जिसमें सेनाएं नेपोलियन के दुर्धर्ष सैनिक संचालन से बार-बार मार खाकर भी धैर्य और हिम्मत के सहारे मैदान लिए पड़ी थीं और प्रचारक ऐसे भ्रामक प्रचार में व्यस्त थे जो जन-जन के हृदय में नेपोलियन के प्रति घृणा और आतंक भर दे। शीत युद्ध का जन्म हुआ और वह शैतान का अवतार करार दिया गया। यहां तक कि उसकी भूतपूर्व पत्नी जोसेफिन, प्रेमिका देजिरे और सौतेली वेटी ओरतांज के साथ उसके संबंधों पर कीचड़ उछाली गयी। यूरोप की साधारण जनता के लिए वह चरित्रभ्रष्ट, हत्यारा और शोषक बन चुका था। सेंट हेलेना की एक निर्जन चट्टान पर कैद असहाय नेपोलियन के शब्द — "मैं क्या हूं यह आने वाली पीढ़ियां निश्चित करेंगी", इतिहास के लिए एक चुनौती बन गए। इतिहासकार ने उसे स्वीकार किया और उन प्रचारों की वास्तविकता आज सर्वविदित है। फिर भी 1969 में नेपोलियन के जन्म के दो सौ साल बाद भी जब उसकी जयन्ती मनाई गई तो जहां एक ओर इसके इतिहास की प्रदर्शनियां लगीं, वहीं गाथाओं या 'नेपोलियानिक लेजेंड्स' की भी।

आस्ट्रिया और इंग्लैंड के प्रचार बूमरेंग साबित हुए। वियेना की कांग्रेस, जिसने प्रतिक्रिया को आधार बनाया था, खोखली साबित हुई। फ्रांस में पुनर्प्रतिष्ठित बूर्बों परिवार नेपोलियन को विस्मृति के गर्त में नहीं डाल सका। उनकी कमजोरियां और असफलताओं ने जनता को उन सुनहरे दिनों की याद दिलाई जब पेरिस सारे यूरोप का भाग्यविधाता हुआ करता था। मास्को से मेड्रिड तक फ्रांसीसी घोड़ों की लगाम तक छूने की किसी की हिम्मत नहीं थी, और उनके लाडले सम्राट नेपोलियन के दर्शन मात्र को राजे-महाराजे तक लालायित रहते थे। बातें फैलने लगीं, इतिहास दबने लगा। वाटरलू भुला दिया गया। मोरेंगों, जेना और फ्रीडलैंड के युद्धों और टिलसिट के दरबार की स्मृतियां बाकी रहीं। नेपोलियन मानवेतर शक्तियों से विभूषित आदर्श बनने लगा। लूई फिलिप को उसकी मिट्टी मांगनी पड़ी और फ्रांस की विभोर जनता ने एक

सीजर को भी लजा देने वाला स्वागत किया उस 'द्विज' का। पेरिस के गली-कूचों का नाम नेपोलियन के युद्धों के नाम पर पड़ने लगा। नेपोलियन की गाथाओं का जोर बढ़ने लगा। 1848 में जब एक बार फिर क्रांति की आंधी आई तो परंपरा फिर लड़खड़ा गई। 'नेपोलियन का नाम स्वयं एक कार्यक्रम है' जैसे नारे के साथ नेपोलियन का भतीजा बड़ी आसानी से फ्रांस का प्रेसीडेंट और फिर स्रमाट बन बैठा और गाथाओं ने फिर से अपनी शक्ति की पुष्टि कर डाली।

युद्धकाल में किंवदंतियां बैक्टीरिया की तरह जन्म लेती और बढ़ती चली जाती हैं। बीसवीं शताब्दी के युद्धों ने इन्हें शस्त्र विशेष बना डाला है। उस युद्ध का रूप और भी भयानक होता है जो आदमी के दिलो-दिमाग में लड़ा जाता है। युद्धों की भयानकता संहार में नहीं है क्योंकि मृत्यु तो प्रकृति का शाश्वत नियम है किन्तु घृणा, आशंका और असत्य का झूठे और सतत प्रचारों द्वारा पैदा किया हुआ वातावरण हृदय में घर कर लेता है और सत्यावलोकन का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इससे भयंकर और कोई बात नहीं हो सकती। किंवदंतियों का रूप लेकर ये प्रचार मानवता का कितना स्थायी अपकार करते हैं इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। इन्हीं के कंधों पर खड़ा शीत युद्ध क्या इनकी शक्ति की दाद नहीं देता? शीतयुद्ध के दौरान हालीवुड ने सोवियत यूनियन को 'ईविल इम्पायर' साबित करने के लिए जैसे चरित्र और घटनाएं रचीं और उस दुष्प्रचार का जो परिणाम निकला वह अब इतिहास बन चुका है।

इनके द्वारा भारत को बड़ी हानि हुई है। क्षणभर को यदि हम कल्पना के ही सहारे मध्यकालीन मध्येशिया तक पहुंच जाएं तो कंधार, काशगर और काबुल के बाजारों में भारत की समृद्धि के विषय में फैली हुई बातों का वास्तविक महत्व समझ में आ जाएगा। भारतीय वस्तुओं के लिए लालायित काफिलों ने इन बाजारों तक इतनी मनगढ़ंत और चटपटी बातें पहुंचाईं कि वहां खैबर को दूसरी दुनिया का दरवाजा समझा जाने लगा था। किसी भी साहसी सेनापति के मुंह में पानी आ सकता था। यह मनुष्य का सहज स्वभाव है कि वह अच्छी और सुखद अनुभूतियों को महत्व देने के लिए नमक-मिर्च मिला देता है। "भारत सोने की चिड़िया' ही नहीं थी बल्कि अब तो यहां पेड़ों पर नीलम और जवाहरात फलते थे और फूट की यह हालत थी कि घर फूंक तमाशा देखने वालों की कमी नहीं थी। इन्हीं किंवदंतियों ने सदियों तक भारत को आक्रामक शक्तियों का अखाड़ा बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

आज भी हम इनकी वक्र दृष्टि के शिकार हैं। भारतीय संस्कृति की उदारता और समन्वयवादिता, प्राचीनता और उपादेयता-उपनिषदों का 'तत्त्वमसि', बुद्ध की वाणी,

गीता का 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', गांधी की अहिंसा और असहयोग और रवीन्द्र के रागरंजित मनोभाव और जुल्म तथा उत्पीड़न के खिलाफ हजारों सालों से चलने वाले संघर्ष की जानकारी आज भी पाश्चात्य देशों के प्रबुद्ध वर्गों तक ही सीमित हैं। लाइब्रेरी की अल्मारियों में बंद भारत की महानता पर आज भी उनकी अभिज्ञता हंसती है। गली-कूचों से संयुक्त राष्ट्रसंघ तक अपनी संस्कृति और नैतिक उत्थान पर विश्वास का दम भरने वाला भारत आज भी वहां, सर्वसाधारण के लिए 'सपेरा का देश' है। आज भी उनके ख्याल से यहां शेरों और हाथियों की चिंघाड़ों का बोलबाला है। आज भी उनके लिए मोतियों पर पलने वाले भड़कीले महाराजे, 'जनता रोटी खाती है या केक' यह नहीं जानने वाले लोग भारत में रहते हैं। भारत के संबंध में इन भ्रामक विचारों के लिए कौन उत्तरदायी है? वे ही मासूम, निरीह, आंशिक सच्चाइयां जो किंवदंतियां बनीं और विकृत रूप में सत्य मानी जाने लगीं। पर्यटक कितनी ही बातें सुनता है, देखता है और समझ नहीं पाता। फिर भी अपनी अनुभूतियां संजोए हुए दूरदराज देशों में अपने बच्चों की जिज्ञासा शान्त करने के लिए, पड़ोसियों और मित्रों पर रोब डालने के लिए और कभी-कभी तो स्वभावतः बातों को प्रभावोत्पाद बनाने के लिए उन्हें तूल दे देता है। और फिर **मिस मेयो** के उत्तराधिकारियों की भी कमी नहीं है। कल्पना साथ देती है। अहम् प्रेरणा देता है और सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक सत्य की छीछालेदर नहीं हो जाती। धोखाधड़ी, चोरी और अशिष्टता का पग-पग पर अनुभव करता हुआ भी पर्यटक भारत की बड़ाई करते नहीं थकता। कारण शायद यही है कि उसकी आशा की अपेक्षा भारत सुंदर और शिष्ट ही दिखाई देता है।

किन्तु इस विषय का दूसरा पक्ष भी है। भारत के जिस अतीत की महानता के गीत गाए जाते हैं, जिसने उन्नीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण को प्रेरणा दी, उसका इतिहास नहीं गाथाएं और साहित्य मात्र ज्ञात है। भारत का भला या बुरा इतिहास से ज्यादा गाथाओं ने ही किया है—क्यों न हो, भारत में इतिहास उपेक्षित जो रहा है।

दुनिया के इतिहास को इसी तरह गाथाओं ने उबारा है। विजेताओं की यह पुरानी नीति रही है कि विजित प्रदेश का इतिहास बदल देना चाहिए। पाठक पुस्तकों में प्राप्त असत्य को भी प्रायः सत्य समझ बैठता है पर साधारण मनुष्य अपनी परंपराएं, अपनी विगत और अपनी उपलब्धियां, कभी नहीं भूल पाता। गीतों और गाथाओं का रूप लेकर सारमय सत्य हमेशा जीवित रहता है और इतिहास संबंधी शोधकार्य उनके ऋणी हैं।

बृहत्तर भारत की वास्तविकता आज सर्वमान्य है। किन्तु इसे सिद्ध करने के लिए केवल मंदिरों के भग्नावशेष पर्याप्त नहीं थे। यदि दक्षिण-पूर्वी एशिया की निरीह

जनता चोल और पाल परंपराओं को विभिन्न रूपों में सुरक्षित न रखती तो आज इतिहास में एक अंक से परदा नहीं उठ पाता। इंडोनेशिया, स्याम और कंबोडिया के लोकगीत, लोकगाथाएं और घर-घर में प्रचलित गाथाएं आज भी भारत का ऋण स्वीकार करती हैं।

यद्यपि गाथाओं ने प्रायः सत्य को आत्मसात् कर लिया है और अन्वेषकों का मार्ग दुर्गम हो गया है फिर भी यह निर्विवाद है कि संक्रमण काल और सुदूरभूत के अगणित सत्य इन्हीं के कोष में सुरक्षित रहे हैं। कभी-कभी खीझता हुआ भी इतिहास का विद्यार्थी इनकी अवहेलना नहीं कर सकता। दूध का दूध और पानी का पानी करने की आवश्कता पड़ती अवश्य है पर प्रायः गाथाएं रोम-रोम में रम जाती हैं। और उन्हें विकृत करना कष्टकर प्रतीत होता है। इतिहास और गाथाओं की यह आंखमिचौनी चलती रही है और चलती रहेगी और इतिहासकार भी अवसर देखकर चोर पकड़ना शायद ही कभी भूलेगा।

7. किसिम-किसिम का इतिहास

इतिहासलेखन उन्मुक्त से उन्मुक्त, मूर्ख से मूर्ख, कल्पनाशील से कल्पनाशील, गैर-जिम्मेदार से गैर-जिम्मेदार इतिहासकार की भी इच्छा पर ही नहीं निर्भर होता। इतिहासलेखन को निर्धारित और सीमित करने वाले कुछ तत्वों पर विस्तार और गंभीरता के साथ विचार किया गया है— जैसे आविष्कृत एवं उपलब्ध स्रोत, इतिहासलेखन की धाराएं, इतिहासकार के पूर्वाग्रह, उसकी समकालीन परिस्थितियां (जैसे राष्ट्रीय आंदोलन के समय लिखा जाने वाला इतिहास तत्कालीन बातों से निश्चित ही प्रभावित होता) आदि। पर एक और चीज इतिहासलेखन को प्रभावित करती है जिस पर बहुत कम गौर किया गया है—वह है पाठक। जिस तरह के पाठक को इतिहास संबोधित होता है उस पाठक की अपेक्षाओं के अनुकूल हुए बिना वह इतिहास स्वीकार्य नहीं होगा। इसलिए इतिहासकार का लेखन पाठक से प्रभावित होता ही है— सचेत ढंग से या अप्रत्यक्ष रूप से।

भारतवर्ष में तो इतिहास के प्रायः दो तरह के ही पाठक होते हैं— विभिन्न कक्षाओं के विद्यार्थी और गंभीर अध्येता— ये दोनों कभी-कभी एक भी हो सकते हैं।

पहले विद्यार्थी को लें। छोटी कक्षाओं में इतिहास? वहां कहानी और गाथा में कोई अंतर नहीं रखा जाता क्योंकि बच्चे को वही स्वीकार्य होगा जो कहानी जैसा हो, रोचक हो। ऐसी स्थिति में महाकाव्यों के पात्र वास्तविक इतिहास के पात्र बन जाते हैं और इतिहास के पात्र भी उतने की काल्पनिक बन जाते हैं जितने धर्मग्रंथों के पात्र। इस तरह के इतिहास में अनिवार्यतः किस्सागोई ही होती है। और आगे जाने पर नम्बर पाने के लिए उद्धरणों की आवश्यकता मानी जाती है। इसलिए पाठ्य-पुस्तकों में विभिन्न प्रसिद्ध इतिहासकारों के प्रासंगिक-अप्रासंगिक मत भरे पड़े होते हैं, भले ही स्वयं लेखक का मत गायब हो। ऐसा पाठ्य-पुस्तकीय इतिहास आलू भरा बोरा होता है। छोटा आलू, बड़े आलू, अच्छे आलू, सड़े आलू।

गंभीर अकादमिक लेखन भी अधिकांशतः उद्धरणों से पटा होता है, और चूंकि यह विद्वानों द्वारा विद्वानों के लिए लिखा गया होता है, इसलिए उसे पढ़-समझ सकते हैं तो केवल वही—दूसरा कोई नहीं। ऐसे इतिहासलेखन में भी प्रायः समकालीन और परवर्ती मतों की चिप्पियां होती हैं—ठूंसे हुए तथ्य होते हैं और असंबद्ध विवरण होते

हैं। अच्छे इतिहास में तथ्यों के चयन, संयोजन का एक आधार होता है तथा व्यक्ति, समाज और समस्या का परिप्रेक्ष्य होता है—पर ऐसा इतिहास है ही कम। वास्तविकता यह है कि इतिहासलेखन सचेत ढंग से पाठक को ध्यान में रखकर होता ही नहीं। जिन दोनों कोटियों के पाठक हैं हमारे देश में उनको इतिहास न तो संतोष देता है, न उनका परिष्कार करता है और जिन्होंने कक्षा में इतिहास नहीं पढ़ा वे इतिहासकार के सरोकार ही नहीं होते। यानी इतिहास का वास्तविक निर्माता सामान्य जन इस देश में इतिहास का पाठक ही नहीं माना जाता। इसलिए उसके लिए लेखन भी नहीं होता। साहित्य से, संस्कृति से अछूता रखकर उसे वैसा ही बनाए रखने की साजिश चलती रहती है और इतिहासकार भी उसमें जाने-अनजाने शामिल रहता है। उसकी मासूमियत, तटस्थता या अनभिज्ञता अक्षम्य होती है।

इतिहासलेखन के निर्धारण में पाठक की भूमिका को स्पष्ट करने के लिए हम फ्रांस का उदाहरण लें जहां इतिहासदर्शन और लेखन की पुरानी परंपरा है, तो बात स्पष्ट हो जाएगी। इनमें भी अगर एक ऐसा पात्र लें जिससे अधिकांश पढ़े-लिखे लोग परिचित हों तो बात करने-समझने में सुविधा होगी।

नेपोलियन शायद इतिहास का सबसे विख्यात और चर्चित चरित्र है। उसे इतिहास निर्माता कहें या इतिहास की अभिव्यक्ति, यह हकीकत है कि दुनिया के सभी देशों में नेपोलियन को जाना-पढ़ा जाता है और लोग उसके प्रशंसक हैं या उससे घृणा करते हैं। नेपोलियन को मरे डेढ़ सौ वर्षों से ज्यादा हुआ। इस बीच देश-काल-व्यक्ति-विचार के अनुरूप उसका मूल्यांकन बदलता रहता है। उसके मूल्यांकन संबंधी विवाद को हालैंड के प्रख्यात इतिहासकार **पीटर जील** ने समेटा है अपनी पुस्तक 'नेपोलियन-पक्ष और विपक्ष में' (नेपोलियन फॉर ऐंड अगेंस्ट)। इसमें लेखक ने बताया है कि कैसे स्वयं फ्रांस में 'नेपोलियन की प्रशंसा और आलोचना के दौर आते रहे हैं।' यही हाल इंग्लैंड का भी रहा हैं इस प्रकार अलग-अलग दौरों में अलग-अलग देशों में अलग-अलग व्यक्तियों ने अलग-अलग कारणों से नेपोलियन का अलग-अलग मूल्यांकन किया हैं। इनसे लेखक की भूमिका स्पष्ट होती है, पाठक की नहीं।

उसके लिए हमें देश के एक काल के लेखकों को चुनना पड़ेगा। इसलिए हमने बीसवीं शताब्दी के फ्रांस के तीन इतिहास-लेखकों का इतिहासलेखन चुना है—**जार्ज लफेबव्र** का अकादमिक इतिहास, **आंद्रे कास्तलो** का बैठकों का इतिहास, **गी ब्रेतों** का कहवाघरों या सोते समय पढ़ने वाला इतिहास जो तीन तरह के और तीन स्तर के पाठकों को मुख्यतः संबोधित है। लेकिन यथासंभाव विश्वसनीयता तीनों की शर्त है

वरना इतिहास के नाम पर काल्पनिक बेसिर-पैर की बातें फ्रांस का सुसंस्कृत या सामान्य पाठक भी स्वीकार ही नहीं करेगा।

नेपोलियन फ्रांस के दक्षिण में स्थित कार्सिका नामक टापू में 1769 में जन्मा और छात्रवृत्ति पर पढ़कर तोपखाने का अफसर बन गया। कठिनाइयों से जूझती जिंदगी में कुछ भी ऐसा नहीं था जो 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' साबित करता। क्रांतिकाल में वह क्रांतिकारियों के निकट भी आता है पर भीड़ की अराजकता देख क्षुब्ध होता है। उसे राजतंत्रवादियों का विद्रोह दबाने में ख्याति मिलती है और रोब्सपियर की मौत के बाद प्रतिक्रियावाद की पुनर्स्थापना के शुरू में ही उसे पेरिस को निरस्त्र करने का मौका मिलता है। वहां उसकी मुलाकात एक महत्वाकांक्षी विधवा जोसेफिन से होती है जिससे शादी के बाद उसे पहला महत्वपूर्ण अवसर मिलता है, उसी प्रभाव से, और वह एक विजय अभियान में अपनी सामरिक, कूटनीतिक और राजनीतिक क्षमता की धाक जमाता है। जिन पूंजीवादी शक्तियों ने राजनीतिक सत्ता के लिए क्रांति की अगुआई की थी और क्रांति की अराजकता के नाते जिनका लक्ष्य अवरुद्ध हो गया था उन्हें नेपोलियन एक उपयोगी व्यक्ति लगता है और उसकी शक्ति बढ़ती ही चली जाती है। पहले वह गणतंत्र के मुखौटे के पीछे तानाशाह बनता है। फिर उसे उतार कर सम्राट बन बैठता है। एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो जोने के बाद वह रूस से स्पेन तक हर संभव तरीके से साम्राज्य का विस्तार करता है, फ्रांस की आंतरिक स्थिति को एक नई व्यवस्था देता है। प्रजातंत्र का गला घोंट कर पुरातन व्यवस्था और क्रांति का ऐसा समन्वय करना चाहता है जो तत्कालीन फ्रांसीसी पूंजीवाद के लिए हितकर हो। असाधारण प्रतिभा के नाते जीवन के हर क्षेत्र पर उसके व्यक्तित्व की मुहर लगती है। पर आत्मकेंद्रित सत्तापिपासु नेपोलियन गलतियां करता चला जाता है और शीघ्र ही उन शक्तियों के लिए अनुपयोगी हो जाता है जिन्होंने उसे ताजो-तख्त दिया था और तब वह तिनके की तरह इतिहास की आंधी में उड़ जाता है।

नेपोलियन निश्चित ही एक चमत्कारी प्रतिभा और परिघटना है और इतिहास में शायद ही कोई ऐसा विजेता हो जो बौद्धिक रूप से इतना प्रखर और कुशल हो। ऐसे व्यक्ति का जीवन आकर्षक और समृद्ध है और वह उत्कट, प्रेम, श्रद्धा और घृणा का पात्र बनता रहा है।

आइए देखें कि तीन इतिहास-लेखक इस चरित्र को कैसे चित्रित करते हैं।

। जार्ज लफेबव्र ने अपनी भूमिका में ही अपनी बात स्पष्ट कर दी है कि उसकी किताब नेपोलियन की 'जीवनी' नहीं है। इसमें न केवल नेपोलियन द्वारा शासित

लोगों के सामूहिक जीवन की मुख्य बातें हैं, उन शक्तियों का भी जिक्र है, उन राष्ट्रों का भी चित्र है, जिन पर उसका नियंत्रण नहीं था। इसका मतलब यह हुआ कि नेपोलियन के माध्यम से एक समाज और एक काल को चित्रित किया गया है एक ताड़ के चित्र में ताड़ की लंबाई ही आकर्षण का केंद्र और उसके अस्तित्व का सूचक होती है। उसे एक परिदृश्य का अंग बना दिया जाए तो उसे सही परिप्रेक्ष्य मिल जाएगा। उसी तरह इतिहास के किसी चमत्कारी लगने वाले महान 'हीरो' को भी उस काल की स्वतंत्र शक्तियों के प्रभाव और व्यापक समकालीन परिदृश्य में संश्लिष्ट कर दें तो उसका सही मूल्यांकन हो जाता है।

इस दृष्टिकोण के कारण जार्ज की पुस्तक में नेपोलियन के व्यक्तिगत या पारिवारिक जीवन की अनावश्यक अंतरंग झलकियां नहीं मिलती जैसी अन्य दो पुस्तकों में। लेखक बासठ पृष्ठों में वह पृष्ठभूमि तैयार करता है जिसमें नेपोलियन उभरता है और यह भी स्पष्ट करता है आखिर किताब का नाम 'नेपोलियन' ही क्यों रखना पड़ा, जबकि वह एक व्यक्ति को अनावश्यक महत्व नहीं देना चाहता। जार्ज के लिए नेपोलियन में 'हीरो' का रूप निर्णायक नहीं हैं। उसके अनुसार 1802 तक नेपोलियन ने फ्रांसवासियों को वह दिया था जिसकी उन्हें अपेक्षा थी, यानी शांति और स्थायित्व। अब वह हीरों नहीं रह गया था। पर वह स्वयं को ऐसा ही मानता रहा।

लफेबव्र नेपोलियन की धार्मिक नीति पर गौर करते हुए उसकी तह में जाकर इस संबंध में नेपोलियन की प्रतिनिधि राय उद्धृत कर देता है, 'समाज समानता के बगैर जिंदा नहीं रहा सकता और धर्म असमानता के बिना नहीं रह सकता।' इसी तरह वह 'नेपोलियन कोड' का सार प्रस्तुत करता है— 'कोड फ्रांसीसी' समाज के 'विकास का फल' था — उस समाज का जिसने पूंजीवाद को जन्म दिया था, सत्ता सौंपी थी।' वह नेपोलियन की सेना को विचार, रणकौशल और चुस्त संचालन की दृष्टि से देखता है, और अंत में, ब्रिटेन की विजय को पूंजीवाद की विजय कहता है। कुल मिलाकर नेपोलियन या कोई भी शासक या नीति किसी इतिहास शक्ति के वाहक बनकर आते हैं और इन्हीं अर्थों में जार्ज का इतिहास गंभीर, कहीं-कहीं कठिन, विचारप्रधान और वर्णनात्मक नहीं विश्लेषणात्मक है। जिन पाठकों के लिए वह लिख रहा था वे इतिहास को महज तथ्य जानने के लिए नहीं, उसे समझने के लिए पढ़ते हैं। जार्ज के पाठकों ने केवल तथ्य संयोजन और विश्लेषण को ही नहीं, भाषा और शैली को भी कथ्य और दृष्टि के अनुकूल पाया है।

दूसरी और आंद्रे कास्तलो नेपोलियन के व्यक्तित्व और व्यक्तिगत जीवन के आकर्षण को रेखांकित करता है। वह नेपोलियन को विजेता, असाधारण शासक, युग

निर्माता आदि साबित करने के लिए उसे असाधारण प्रतिभा और एक 'पहेली' के रूप में प्रस्तुत करता है जिसे वह स्वयं हल भी करता प्रतीत होता है। इसके लिए कास्तलो मध्यवर्गीय पाठकों को चुनता है जिनके लिए कुछ पढ़ना उनके जीवन-स्तर का सूचक और उद्‌बोधक होता है। वे महत्वपूर्ण चरित्रों के बारे में एक सीमा तक जानना चाहते हैं। सीमित ही सही, ज्ञान भी उनकी संस्कृति का अनिवार्य अंग है। लेकिन उनके वास्तविक सरोकार भिन्न हैं। इसलिए उन्हें एक सीमा तक ही शिक्षा-संस्कृति में दिलचस्पी होती है—समय दे पाना भी संभव नहीं होता। कास्तलो नेपोलियन की वह उक्ति ही उद्धृत करता है जो उसके लेखन-मंतव्य के अनुकूल है, जो सहज, सुलभ, आकर्षक और उपयोगी हो। उनके लिए पुस्तक का पहला गुण होना चाहिए पठनीयता। कास्तलो की किताब देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है। अखबारी कागज पर छपी सस्ती दिखने वाली जार्ज की किताब के मुकाबले कास्तलो की किताब भारी-भरकम, महंगी, आकर्षक और पठनीय है। कास्तलो नेपोलियन की उक्ति उद्धृत करता है: 'एक उपन्यास है मेरा जीवन' और वह एक उपन्यास नेपोलियन को नायक की तरह ही प्रस्तुत करता है। वह नेपोलियन द्वारा लिओ की अकादमी के लिए लिखे गए एक लेख को उद्धृत करता है: 'प्रतिभा उल्का की तरह होती है।', कास्तलो की नजरों में नेपोलियन क्या है? 'इतिहास की सबसे असाधारण शख्सियत'। इसकी पुष्टि के लिए वह पादरी आब्बेसिए को उद्धृत करता है, कौंसुला (कांसुलेट) की पहली बैठक के बाद सीए कहता है, 'दोस्त! अब तुम्हें एक ऐसा प्रवीण मिल गया है जो सब कुछ जानता है, सब कुछ के योग्य है, सब कुछ कर सकता है।' सारी पुस्तक ऐसे ही 'सुपरलेटिव्स' से भरी पड़ी है। विशेषणों को मध्यवर्गीय जीवन बहुत महत्व देता है। पर वह होते हैं निरर्थक उसके लिए। यानी वह उनका अर्थ नहीं समझता। उनकी तह में नहीं जाता। नेपोलियन अर्द्ध-संस्कृत मध्यवर्गीय मस्तिष्क के लिए वैसे ही पेश किया जाता है जैसे आज के सिनेमा में अमिताभ बच्चन। सर्वशक्तिमान लगने वाला नेपोलियन पाठकों के अहं को तुष्ट करता है।

कास्तलो ऐसे विस्तार में जाता है जो पाठक की कल्पना को गुदगुदाए। उदाहरण के लिए, नेपोलियन सत्ता में आने से पहले पेरिस में कुछ पुराने मकान लेकर उन्हें किराए पर चलाना चाहता था, यानी मुनाफाखोरी करना चाहता था। इसी तरह नेपोलियन के परिवार के विभिन्न सदस्यों के साथ क्या रिश्ते थे—उनके अंदर परंपरा-द्वेष, कलह कैसे चलता था वह सब कास्तलो चटखारे ले-लेकर चित्रित करता है। कास्तलो के अनुसार नेपोलियन अपने परिवार के भविष्य के बारे में चिंतित रहता था। उसने जोसेफिन को लिखा भी था, 'तुम जानती हो कि मैं उन्हीं के लिए जिन्दा हूं जो

मेरे हैं'। इस तरह नेपोलियन एक पारिवारिक व्यक्ति की तरह उभरता है जिसके वही सरोकार हैं जो मध्यवर्ग के होते हैं। इतने 'महान' व्यक्ति को अपने जैसा देखने में मध्यवर्ग को सुख मिलता है और वह ऊंची कीमत चुका कर भी कास्तलो की किताब खरीदता, और कभी-कभी पढ़ता भी है।

कास्तलो ऐसे विवरणों में भी जाता है जैसे इटली के पहले अभियान के बाद संधि कैम्पोफोर्मिया में नहीं हुई थी, जैसा कि अधिकांश पुस्तकें लिखती हैं, बल्कि पासेरिआनों में हुई थी जो बारह किलोमीटर दूर था। ऐसा क्यों या कैसे लिखा जाने लगा या इस स्थान परिवर्तन का ऐतिहासिक महत्व क्या है, इस पर कास्तलो रोशनी नहीं डालता। जबकि महत्वपूर्ण बात वही होती। सारी किताब में 'अगर' और 'काश' की भरमार है। ऐसी चौंकाने वाली बातें हैं, छोटी-मोटी बातों का इस तरह जिक्र है कि पाठक अवाक् रह जाता है। उसकी सांस तेज चलने लगती है। जैसे 'अगर नेपोलियन और कुमारी सैंजर के बीच दोस्ती शादी में बदल जाती तो वह लुई पंद्रहवें का दामाद बन जाता।' या 'जानते हैं लुई सोलहवें ने किस कागज पर आखिरी बार सरकारी दस्तखत किया था? अपने भावी शाही उत्तराधिकारी लुई नेपोलियन की तनख्वाह का बकाया भुगतान करने की आज्ञा पर।' ये तथ्य इतिहास की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं रखते पर मध्यवर्गीय पाठकों को वे दिलचस्प ही नहीं अत्यंत महत्वपूर्ण लगते हैं।

नेपोलियन की आर्थिक नीतियां और इंग्लैंड के साथ हुए व्यवसाय में अवरोध डालने वाले संघर्ष का चलताऊ जिक्र है पर नेपोलियन की पोलैंड वाली प्रेमिका पर पूरा एक अध्याय लिखा गया है।

कास्तलो अपने इतिहास की विश्वसनीयता सिद्ध करने के लिए लिखता है कि उसने मास्को से मेड्रिड तक और एक्स नामक टापू (जहां नेपोलियन ने फ्रांस में अपने अंतिम कुछ दिन बिताए थे) से सेंट हेलेना (जहां वह अंग्रेजों द्वारा कैद किया गया था और जहां वह मरा) की यात्रा की, फ्रांस तथा रूस के अभिलेखगारों को छान मारा। समकालीन अधिकारी इतिहासकारों को भी वह उद्धृत करता है, लेकिन उन्हें ही जो उसके मूल्यांकन को कहीं मजबूत बनाते हों, जैसे **लुई मादलैं** और **आल्बैर सोरेल**।

कभी-कभी वह तथ्यों पर अपनी राय नहीं देता महज ज्यों-का-त्यों रख देता है। जैसे नेपोलियन अपने गृहमंत्री को आज्ञा देता है कि 'कोई नाटक या अन्य कार्यक्रम उसकी आज्ञा के बिना नहीं होना चाहिए।' 'बूर्बो वंश और जैकोबैं गणतंत्रवादियों के पक्षधर अखबारों का गला घोंट दिया जाए।' इन आदेशों के बारे में लेखक अपनी राय नहीं देता। ऐसे में तथ्य के आधार पर पाठकों को स्वयं निर्णय लेने की छूट दी जाती है।

इतिहासकारों में वस्तुगतता सिद्ध करने का यह भी एक भ्रामक चलन है कि तथ्यों को स्वयं बोलने दिया जाए। हकीकत यह है कि अतीत के तथ्य उछलकर तो आ नहीं जाते किताबों में। उन्हें इतिहासकार चुनता है। वह वैसे ही तथ्य चुनता है जो उसकी बात बोलें। इसलिए तथ्य कितने ही वस्तुगत और निरपेक्ष लगें, उनके माध्यम से इतिहासकार भी बोलता है।

कास्तलो ने नेपोलियन के सहयोगियों या परिचारकों, जैसे **बूरिएन्न, रुस्तम, निकोला** और **रूदरे** के साथ हुए बड़े-बड़े संवाद दिए हैं। जाहिर है वे प्रामाणिक नहीं हैं। उन्हें आशय के आधार पर कास्तलो या उनके सहयोगियों ने ही गढ़ा है या फिर वे किंवदंतियां हैं। उन्हें इस तरह प्रस्तुत करना जैसे इतिहासकार ने वाटरगेट की तरह गुप्त टेपरिकार्डर फिट कर रखे थे (हालांकि उस जमाने में ऐसी व्यवस्था नहीं थी) ऐतिहासिक उपन्यास में तो संभव है, इतिहास में नहीं। पर कास्तलो के सामने एक ओर बीसवीं सदी के फ्रांस जैसे देश में लिखने की सीमा है दूसरी ओर ऐसे पाठक हैं जो इतिहास को विश्वसनीय गल्प के ही रूप में लेते हैं। इस प्रकार कास्तलो का लेखन, उसका तथ्य-संयोजन, विश्लेषण, भाषा-शैली सब अपने पाठक को सामने रखकर तय हुआ है।

गी ब्रेतों और भी नीचे उतरता है और सामान्य पढ़े-लिखे निम्न मध्यवर्ग और मेहनतकशों की संवेदनाओं को गुदगुदाने के लिए प्रेमपत्रों को इतिहास का स्रोत बनाता है। उनमें झांकते नेपोलियन की छवि और भिन्न है। वह ऐसे तथ्यों को उजागर करता है: नेपोलियन जब मिस्र पर कब्जा करने गया तो उसके अभियान में छद्मवेश में 300 औरतें भी गई थीं। ऐसे प्रसंग, ऐसे संवाद और ऐसी घटनाएं चित्रित हैं कि नेपोलियन एक कामुक नारी-प्रेमी विलासी की तरह प्रस्तुत होता है। नेपोलियन वह सब करता है जो कुंठित सामान्य व्यक्ति करता है या करना चाहता है। ऐसा नेपोलियन निश्चित ही सामान्य लोगों को अपना लगने लगता है। अगर महज ऐसा ही होता तो गी ब्रेतों की पुस्तक चर्चा योग्य नहीं रह जाती। पर प्रेम-कथाओं के बीच से समकालीन आर्थिक-सामाजक जीवन भी झांकता है। जैसे किसी अच्छी इतिहास पुस्तक में भी न मिलने वाला एक लोकगीत प्रस्तुत किया है ब्रेतों ने जो नेपोलियन की निरंकुशता के विरुद्ध एक स्वतः-स्फूर्त पहली लोकप्रतिक्रिया थी:

कहते हैं लोग मेरे बारे में
जीवन और खुशियों से भरा हुआ मैं
मेरे गुण गाते हैं लोग अगर
तो इसका मतलब ये होता है

नाश करा सकता हूं सब कुछ का मैं
नाश हो अ अ अ

जाना चाहिए मेरे पीछे होकर कहीं
होता हूं प्रिय जहां भी जाऊं मैं वहीं पाने
पाने के लिए मेरी एक ही झलक
अपना सब कुछ तुम्हें देना पड़े तो भी
गर्व करो, तुम पीछे हटना नहीं
बाप रे ए ए ए

बोता हूं फूट अपने आन्दोलित देश में
रहता हूं पर उसके बाप के वेश में
सच्ची बात कहूं तो है बस इतनी सी
मिलनी चाहिए मुझे फांसी, हां फांसी
फांसी ई ई ई

जीवन में लूटी हैं खूब-खूब खुशियां
पूरी अब होती है उसकी अट्टालिका
तानाशाह जीते हैं हरदम ही शान से
कब्र में भी जाऊंगा मैं सम्मान से
कब्र में ए ए ए।

इस प्रकार ऊपर जिन तीन प्रकार के लेखकों का जिक्र किया गया है वे तीनों अपने ढंग के विस्तार में जाते हैं, प्रामाणिक लगने की चेष्टा करते हैं और इसलिए अपने स्रोत उद्धृत करते हैं। इस प्रकार अपने विशिष्ट पाठकों को संतोष देते हैं। लेकिन यहीं समानता समाप्त हो जाती है। लफेबव्र परिप्रेक्ष्य पर जोर देता है, कास्तलो नाटकीयता पर और भी ब्रेतों मनोरंजन पर तीनों ही अपनी सुनिश्चित भूमिका निभाते हैं और फ्रांस का इतिहास-साहित्य समृद्ध करते हैं। वे एक-दूसरे के न प्रतिस्पर्धी हैं न विकल्प–एक सीमा तक एक-दूसरे के पूरक हैं।

इस तरह का अध्ययन भारतीय संदर्भ में और जरूरी है क्योंकि यहां गंभीर विश्वविद्यालीय इतिहास में प्रायः जार्ज जैसा परिप्रेक्ष्य नहीं मिलता। कास्तलो जैसा इतिहास तो उपलब्ध नहीं है। ब्रेतों जैसा इतिहास प्रायः काल्पनिक, संकुचित और

संकीर्ण होता है और इतिहास के नाम पर प्रायः गल्प मात्र होता है। जहां तथ्य भी होते हैं तो संदर्भच्युत। जाहिर है कि समाज में सभी जार्ज लफेबव्र का इतिहास नहीं पढ़ना चाहते—संभव भी नहीं है। आंद्रे कास्तलो और गी ब्रेतों जैसा इतिहास ही अधिक लोकप्रिय होगा पर उसे होना आधिकारिक पड़ेगा, तभी उसकी उपयोगिता है।

इसके अलावा इतिहास ही नहीं किसी भी लेखन में पाठक की उपस्थिति का अहसास एक जिम्मेदारी की बात है। जो लेखक पाठक की परवाह नहीं करता वह आत्मकेन्द्रित, दंभी और गैर-जिम्मेदार होता है। उसका लेखन समाज के लिए उपयोगी भी नहीं होता। आत्मसंतोष के लिए लिखना जैसी कोई बात नहीं होती। लेखन संवाद है और संवाद में दो पक्ष होते हैं। दूसरे की अनुपस्थिति संवाद के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा देती है। भारतीय इतिहासलेखन में पाठक की भूमिका स्पष्ट होनी चाहिए।

भारतीय संदर्भ में इन तीन प्रकारों का इतिहास कैसे लिखा जाएगा इसकी कल्पना की जा सकती है। जैसे **गांधी** का चरित्र लें। जार्ज जैसे लेखन की कोटि में गांधी पर कोई पुस्तक है नहीं। पर **महादेवन** और **नंबूदिरीपाद** का लेखन उस ओर इंगित करता है। दूसरी कोटि में **महादेव देसाई, प्यारेलाल, लुई फिशर** आदि की किताबें हो सकती हैं। तीसरी कोटि में **वेद मेहता** (अमेरिका में बसा नेत्रहीन भारतीय लेखक) जैसों की किताबें आएंगी। वैसे, गांधी को देवत्व देने के दौर में गांधी मानव की सही छवि मिलना आसान नहीं है।

कल्पना करें कि **अकबर** पर लिखना हो तो कैसे लिखेंगे तीनों शैलियों में? गंभीर पाठक के लिए लिखने के लिए अकबर ही नहीं उस समय के भारतीय समाज को समझना होगा, विश्वव्यापी सामाजिक परिवर्तन की धाराओं में उसे स्थित करना होगा। उसके लिए अरबी, फासी, उर्दू के ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं और यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध स्रोतों का अध्ययन करना होगा। उसके मूल्यांकन में उसके समकालीन इंग्लैंड की **एलिजाबेथ**, स्पेन के **फिलिप**, फ्रांस के **हेनरी चतुर्थ** आदि को भी रखना होगा। भारतीय इतिहास की गति को विकसित या अवरुद्ध करने में उसकी भूमिका तय करनी होगी। इस प्रस्तुति की भाषा-शैली, रूपक-अलंकार और संयोजन सब इतिहास के गंभीर विद्यार्थियों और इतिहासज्ञों को ध्यान में रखकर तय करने होंगे।

दूसरी कोटि में अकबर पर लिखे गए अधिकांश आज के आधिकारिक ग्रंथ आएंगे बशर्ते कि उनकी शैली थोड़ी बदल दी जाए। इस कोटि में अकबर को एक समन्वयवादी, **दीन-ए-इलाही** का असफल प्रवर्तक, **बीरबल** का दोस्त, **बुलन्द**

दरवाजा का निर्माता, हेमू से टक्कर, बैरम खां से रिश्ता, फतेहपुर सीकरी की जन्माष्टमी, इबादतखाना की बहसें आदि प्रस्तुत होंगी। यह सब सही होगा पर वह न उस काल को परिप्रेक्ष्य देगा न उस व्यक्ति को—वह उतना ही सफल और असफल होगा जितना आंद्रे कास्तलो है।

तीसरी कोटि में अकबर के मीना बाजार की चर्चा होगी, अकबर को लेकर राजपूताना के राजघराने में चलने वाली कानाफूसियों का जिक्र होगा, फतेहपुर सीकरी के अंतःपुर के किस्से होंगे। पर यही सब नहीं होगा। जिस काल या व्यक्ति का यह पहलू उजागर होगा उसके अन्य पहलुओं की भी झलक तो होगी ही। इस कोटि का भी लेखन अभी तक नहीं हुआ है। तीसरी कोटि में भी तीसरे दर्जे के लेखक कभी-कभार व्यावसायिक पत्रिकाओं में छप जाते हैं। पर उन्हें गी ब्रेतों जैसा भी सम्मान नहीं दिया जाना चाहिए।

अंत में यह कहना पड़ता है कि भारत के पाठक की भूमिका स्पष्ट ही नहीं है। केवल शोधकार्य हो या लोकप्रिय लेखन, पाठक को अनुपस्थित ही रखा जाता है। उसे ध्यान में रखा जाए तो तीनों ही कोटियों का लेखन होगा और धीरे-धीरे उसका स्तर भी उठेगा। पूरे समाज को सुसंस्कृत करने में इतिहास की भूमिका भी तभी स्पष्ट और कारगर होगी।

एक चौथे तरह का इतिहासलेखन वह होता है जो सामान्य को उनके पूर्वजों, यानी अतीत के सामान्य जन से परिचित कराता है, यानी जनता का इतिहास जनता के लिए। इस कोटि में पश्चिमी देशों में भी बहुत कम काम हुआ है। यह सच है कि इंग्लैंड में 'हिस्ट्री टुड्ड' और फ्रांस में 'लिस्तुआर' और 'मिरूआर द लिस्तुआर' जैसी लोकप्रिय पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं जो सामान्य पाठक को सम्बोधित होती हैं, इसलिए भाषा-शैली सरल और सामग्री सामान्य रुचि की होती है, पर उनमें भी अक्सर 'हीरो इन हिस्ट्री' वाला दृष्टिकोण होता है। वास्तव में जन-इतिहास जन के लिए अभी पश्चिमी देशों में भी लिखा जाना है। भारतवर्ष में तो पूरे इतिहासलेखन में ही एक नया दौर आया है। ऐसे में अन्य अनिवार्यताओं के साथ पाठक की उपस्थिति को भी अनिवार्यतः निर्णायक मान लिया जाए तो लेखन और अधिक स्पष्ट और ग्राह्य, और सोद्देश्य तथा और अधिक उपयोगी होगा।

(इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस के अलीगढ़ सेशन में 'भारतेतर इतिहास' सेक्शन के अध्यक्ष पद से प्रस्तुत शोध निबंध के आधार पर)

8. इतिहास और जन

पुस्तक में विभिन्न प्रसंगों में हम 'जनता का इतिहास, जनता के लिए' का जिक्र करते रहे हैं। पाठक के मन में सहज ही सवाल उठ सकता है कि वह कैसा होगा। फ्रांस के इतिहास से एक प्रसिद्ध प्रकरण प्रस्तुत कर हम ऐसे इतिहास का नमूना पेश करने की कोशिश कर रहे हैं। जनता के लिए इतिहास और सरल तथा ग्राह्य होगा। पर हर सरल काम सरल नहीं होता।

बास्तीय के विजेता : कहते हैं कि शाहजहां ने दिल्ली का लालकिला बनवाने के बाद उसमें खुदवाया था 'गर फिरदौस बर रूए ज़मीनस्त, हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त'—अगर धरती पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है। काश वह पेरिस के नजदीक वेरसाइय नामक नई राजधानी का सौन्दर्य और वैभव देख पाता। लुई चतुर्दश, जिसने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस पर राज्य किया, अपने को 'सूर्यशासक' (रुआसोलइ) की तरह प्रस्तुत करता था। ऐसे देवता तुल्य राजा का एक मन्दिर भी होना चाहिए था। जो राजा कहता हो 'मैं ही राज्य हूं' उसकी राजधानी भी तो वैसी ही तामझाम युक्त होनी चाहिए थी। थी भी वैसी। इतनी बड़ी राजधानी के निर्माण और जीवन-भर लड़े जाने वाले युद्धों ने देश को चूस डाला था। पर शासन इतना कठोर और केन्द्रित था कि जुबान खोलने की सजा जेल थी। एक तरह का फोटा था 'लेत्र द काशे' जिसके द्वारा कभी भी किसी को गिरफ्तार किया जा सकता था।

ऐसे कैदियों के लिए एक किले का इस्तेमाल होता था। बास्तीय का किला पेरिस से बारह मील दूर स्थित था और जुल्म तथा आंतक के प्रतीक के रूप में बदनाम, फ्रांस में नहीं नहीं सारे यूरोप में। इंग्लैंड से फ्रांस की पुरानी दुश्मनी थी फिर भी एक अंग्रेज कवि ने लिखा:

बास्तीय!
आतंक इतिहास मीनारों, टूटे दिलों की बस्ती,
काल कोठरी, निराशा के पिंजरे।
शायद ही कोई हो इंग्लैंड में,
उछल न पड़े जो तुम्हारे पतन पर,

हम खुश होंगे उनकी भी मुक्ति पर,
जो बनाते रहे हैं शत्रुवत हमारे लिए
जंजीरें ....

अगर एक शत्रु देश का कवि इतनी घृणा करता है किसी जुल्म के प्रतीक से तो उस देश में उसे क्या समझा जाता होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। इसी बास्तीय पर 14 जुलाई, 1789 को पेरिस की आम जनता ने हमला किया और उसकी ईंट से ईंट बजा दी। वहां पर इतने बड़े किले का नामोनिशान नहीं बचा। सारे यूरोप में खुशी मनाई गई।कवियों ने फ्रांस में नए युग की शुरुआत पर गीत गाए और जहां की जनता ऐसा नहीं कर सकी वहां के लोगों के नाम पर शर्म से गर्दन झुका ली। इंग्लैंड के राष्ट्रकवि वर्ड्सवर्थ ने लिखा था कि 'ऐसे काल में फ्रांस में पैदा होना ही परम सुख है—नौजवान होना तो स्वर्ग जैसा आनंददायी होगा।' कोलरिज ने शर्म से गर्दन झुका ली कि ऐसा इंग्लैंड में क्यों नहीं हुआ। आज भी फ्रांस 14 जुलाई को अपने राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाता है।

आज भी दुनिया के बहुत से देशों में जुल्म है, आतंक है, तानाशाही है। कितना प्रासंगिक होगा, अतीत के उस पन्ने पर रोशनी डालना जिस पर एक असाधारण और स्वतः स्फूर्त जनविद्रोह के तथ्य अंकित हैं? कौन थे बास्तीय के विजेता?

हुआ यह कि फ्रांस में आर्थिक और राजनीतिक विकास की रफ्तार एक जैसी नहीं थी। फ्रांस में पूंजीवादी विकास पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में शुरू हुआ था। दो सौ वर्षों में वह दुनिया के सबसे विकसित देशों में शामिल हो गया। वहां पूंजीपति वर्ग (बूर्ज्वाजी) की दो समस्याएं थीं: (1) आर्थिक विकास अपनी चरम स्थिति में था और स्थितियों में बिना आमूल परिवर्तन हुए आगे नहीं बढ़ सकता था। (2) उसके पास आर्थिक दृष्टि से तो हर शक्ति थी पर राजनीतिक सत्ता नहीं थी।

इंग्लैंड का पूंजीपति राजनीति में निर्णायक होता जा रहा था। वहां पार्लियामेंट वाली शासन व्यवस्था थी और पूंजीपति पार्लियामेंट में ताकतवर होते जा रहे थे। अंग्रेजी पूंजीपति खुलकर अपने देश के मेहनतकशों और भारत जैसे उपनिवेशों को लूट कर समृद्ध होते जा रहे थे। फ्रांस का सामंती राजा किसी को कोई अधिकार नहीं देना चाहता था। जिस घूरे पर वह फूल रहा था वह सड़ गया था। परिवर्तन के लिए 'स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा' के नारे के साथ पूंजीपति विचारक लोगों को जगा रहे थे।

ऐसे में दिवालिया और असहाय शासक असफल भी होने लगा तो फ्रांस में क्रांति का विस्फोट हुआ। जब लोगों को पता चला कि राजा क्रांति को दबाने के लिए

विदेशियों की सेना बुलाकर क्रांति के केन्द्र पेरिस पर हमला करना चाहता है तो उन्होंने अपने को लैस करना जरूरी समझा और बास्तीय जा पहुंचे जहां हथियार मिलने की संभावना थी।

कुछ इतिहासकार बास्तीय पर हुए हमले को एक सुनियोजित षड्यंत्र बताते हैं। कुछ का कहना है कि फ्रांस के राजा के एक रिश्तेदार आरलेआं के ड्यूक ने अपने स्वार्थ में यह दंगा करवाया था। ऐसे इतिहासकार अधिक हैं जो इसे एक राष्ट्रीय उभार के रूप में देखते हैं। यहां हम इस विवाद में पड़कर भटक जायेंगे। हमें यह अवश्य याद रखना होगा कि बास्तीय का पतन क्रांतिकारी घटनाओं की शृंखला में एक कड़ी था। उसके पहले फ्रांस के प्रांतों में अगर विद्रोह न हुआ होता तो 14 जुलाई की घटना शायद न घटती और अगर वह न घटती तो बाद के किसान विद्रोह न होते। और अगर पूरे फ्रांस में किसानों का सामंत विरोधी अभियान न चलता तो 14 जुलाई का महत्व कम हो जाता।

फ्रांस की क्रांति में भीड़ की भूमिका और उसके मूल्यांकन को लेकर इतिहासकारों के बीच बहुत विवाद रहा है। जिन्हें बाद में 'बास्तीय के विजेता' कहकर सम्मानित किया गया उन्हें प्रसिद्ध अंग्रेज विचारक **एडमंक बर्क** ने 'समाज के सबसे गलत तत्वों' के रूप में प्रस्तुत किया था। स्वयं फ्रांस में **तैन** ने उन्हें 'निकृष्टतम सामाजिक कचरा' कहा तो मादलैं ने उन्हें 'गुंडा-बदमाश-डाकू' तक कह डाला। दूसरी ओर गणतांत्रिक प्रवृत्ति के पक्षधर इतिहाकार मिशले ने लिखा कि 'अगर बास्तीय बुराइयों का प्रतीक था तो उस पर हमला करने वाले अच्छाइयों के।'

हकीकत क्या थी? आइए जरा और छानबीन करें। उस समय पेरिस में एक अमरीकी यात्री मॉरिस मौजूद था। एक गणतंत्र का प्रबुद्ध निवासी और राजनीतिक प्राणी होने के नाते उसकी तत्कालीन घटनाओं में गहरी रुचि थी। रोज रात को वह डायरी लिखता था। उसकी डायरी उस समय के इतिहास का महत्वपूर्ण स्रोत है। उसने जुलाई के शुरू में डायरी में लिखाः 'इस नगर और आसपास के इलाके में लाखों लोग अपनी रोटी के लिए सरकार की निगरानी पर निर्भर हैं।' **जनरल बंसावाल** जिसे पेरिस की सुरक्षा की जिम्मेदारी सौंपी गई थी, ने भी स्वीकार किया था : 'बाजार में रोटी जैसी आवश्यक चीज़ की कमी और भविष्य के बारे में असुरक्षा के भाव ने भय का वातावरण पैदा कर दिया था।' सब कुछ उद्वेलित हो चला था। सबसे अधिक कमी वाली जगहों को भेजे जाने वाले सामान बीच में ही रोक लिए जाते थे। चारों ओर फैलती जा रही गड़बड़ी के कारण फ्रांसीसी और स्विस रक्षकों के दो रेजिमेन्ट कानून और व्यवस्था के लिए लगा दिए गए थे।

इस बीच राज्य के दिवालिएपन से निपटने का कोई तरीका न बचने के कारण राजा उस जन प्रतिनिधि सभा का चुनाव कराने पर मजबूर हो गया था जो 175 साल पहले दफन कर दी गई थी। फ्रांस की परंपरा थी कि पादरियों, सामन्तों और शेष जनता यानी तृतीय वर्ग के प्रतिनिधि अलग-अलग चुनकर आते थे। इन तीनों में अलग-अलग निर्णय होता था। चूंकि विशेषाधिकार संपन्न कुलीन पादरियों और समांतों के हित एक जैसे थे इसलिए उनके सदनों का निर्णय प्रायः एक जैसा होता था और संख्या में अधिक होते हुए भी तृतीय वर्ग पराजित हो जाता था। 1789 के चुनाव के बाद स्थिति भिन्न थी। तृतीय वर्ग जागरूक था और भेड़-बकरियों की तरह हांका नहीं जा सकता था। उसने राजा को मजबूर कर दिया था कि हर व्यक्ति का एक मत हो और संख्या के बहुमत से ही निर्णय लिए जाएं। बहुत से सामन्त और पादरी भी तृतीय वर्ग के पक्षधर होते जा रहे थे। फ्रांस में पहली बार तृतीय वर्ग के प्रतिनिधि देश की जनता के प्रतिनिधियों के रूप में सिर उठाने लगे थे। इससे एक तरफ का हौसला बढ़ रहा था, दूसरी ओर दरबार के लोग आतंकित हो षड्यंत्र करने लगे थे। तनाव बढ़ता जा रहा था। जनता और दरबार के बीच दूरी बढ़ती जा रही थी।

जहां सामान्य रूप से इतनी असुरक्षा और असंतोष हो वहां अगर कोई आशा की किरण नहीं है तो विस्फोट हो जाना स्वाभाविक है। यह आशा की किरण देश के अर्थमंत्री नेकर से निकल रही थी। स्विट्जरलैंड के रहने वाले और प्रोटेस्टेंट मत में विश्वास रखने वाले आर्थिक मामलों में निपुण इस व्यक्ति ने जर्जर अर्थव्यवस्था पर भी सफलता का मुलम्मा चढ़ा रखा था। इसलिए लोग सोचते थे कि जब तक नेकर है सब कुछ ठीक रहेगा। लेकिन राजा ने जनता से यह संबल भी छीन लिया। नेकर के विरुद्ध राजधानी में गुटबन्दी थी। उसे सुधारवादी समझा जाता था और घोर प्रतिक्रियावादी दल किसी-न-किसी तरह उसे हटाना चाहता था। उसके विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क यही था कि वह एक विदेशी और प्रोटेस्टेंट था। ऐसे आदमी का क्या विश्वास! कान के कच्चे लुई सोलहवें ने शानिवार के दिन उसे बर्खासत कर दिया। राजा ने सोच-समझकर दिन चुना था। दूसरे दिन छुट्टी थी। उसने सोचा बात फैलने में देर होगी इसी बीच स्थिति संभाल ली जाएगी। लेकिन तनावपूर्ण वातावरण में बात फैलते देर नहीं लगी। लोगों ने इसे दरबार के दो सबसे परिवर्तन विरोधी लोगों, रानी **मारी आंतुआनेत** और राजा के **भाई आर्तुआ के ड्यूक** की जीत समझी। धैर्य का बांध टूट गया। ऐसा लगने लगा कि गृह युद्ध शुरू हो जाएगा।

लोगों का विश्वास और मजबूत हो गया कि दरबार में सामान्य लोगों और विशेषकर तृतीय वर्ग के विरुद्ध षड्यंत्र हो रहा है। खबर उड़ गई कि राजा सेना की

मदद से दमन करना चाहता है और विदेशी टुकड़ियों का भी इस्तेमाल होगा। देश में सेना का आवागमन बढ़ गया था। या सोचा जाने लगा था कि पेरिस पर बास्तीय और मोंमार्त्र की ओर से हमला होगा, फौज द्वारा दमन के बाद भयंकर लूटपाट होगी और जनता तबाह हो जाएगी। ऐसी अफवाह तेज थी कि राजदरबार तृतीय वर्ग को सबक सिखाना चाहता है। ऐसे में संवदेनशील और एक सीमा तक जागरूक लोग एकदम खामोश कैसे बैठ सकते थे? जनता की मनःस्थिति यह थी कि सत्ता के प्रतीक किसी भी चीज पर गुस्सा उतारने पर आमादा थी। एक दिन पेरिस के एक चौराहे पर सौ-दो सौ लोग गरमागरम बहस कर रहे थे। तभी पुलिस की एक घुड़सवार टुकड़ी पर नजर गई। किसी ने एक कंकड़ चलाकर कमान्डर को मानो सलाम किया। उसे चोट लगी तो उसने हमला कर दिया। लोग भागकर ऊंची जगहों पर चले गए और ढेलों की बरसात शुरू हो गई।

एक कालेज के प्राध्यापक **बफ्रुआ** ने इतवार को जो कुछ देखा-सुना उसके बारे में लिखा है वह लिखता है कि वह दिन एक सांस्कृतिक कार्यक्रम देखने जाने वाला था। उसे किसी ने बताया कि ऐसे सारे प्रदर्शन बन्द कर दिए गए हैं। नेकर को देश से निकाल दिया गया है और पेरिस की जनता ने विद्रोह कर दिया है। स्वयं स्थिति का जायजा लेने के लिए वह सड़क तक गया। वहां उसने पांच-छः हजार लोगों को तरह-तरह के हथियारों के साथ तेजी से इधर-उधर जाते देखा।

इन घटनाओं से ऐसा लग सकता है कि भीड़ पूरी तरह तरह अराजक हो गई थी पर ऐसा था नहीं। भीड़ ने नेकर और ओरलेआं के ड्यूक की, जिन्हें वह जनता का शुभचिंतक समझती थी, मूर्तियां संग्रहालयों से मंगा कर उनका प्रदर्शन किया। बफ्रुआ आश्चर्यचकित था कि वह आदमी जिसके हाथ में नेकर की मूर्ति थी, सड़क पर ही मारा गया था फिर भी प्रदर्शन के बाद दोनों मूर्तियां सुरक्षित थीं और उन्हें उनके मालिकों को लौटा दिया गया। पड़ोस के एक बढ़ई ने, जो इस समय बहुत सक्रिय था, बफ्रुआ को बताया : हम किसी को किसी तरह का नुकसान नहीं पहुंचाना चाहते। हम बस नागारिकों में आवश्यक साहस भर देना चाहते हैं ताकि पेरिस के प्रमुख द्वार पर राजा द्वारा भेजी गई फौजी टुकड़ियों को वह खदेड़ सकें। बफ्रुआ लिखता है कि ऐसे व्यक्ति (सूचना देने वाले उस बढ़ई) पर कैसे अविश्वास किया जाए जो एक अच्छा पिता, एक अच्छा पति एक ईमानदार कारीगर था।

उसी दिन की बात है। ओरलेआं के ड्यूक के महल 'पैले रोयाल' के बगीचे में काफी लोग जमा थे। वर्तमान स्थिति पर जोरदार बहस चल रही थी। इसी समय बड़े नाटकीय ढंग से एक नौजवान असफल वकील **कामीय दे मूलैं** उचककर एक कुर्सी

पर चढ़ गया और चिल्लाया : 'अगर हमने अभी भी हथियार नहीं संभाले तो आज रात राजा की जर्मन और स्विस टुकड़ियां नरसंहार कर देंगी।' भीड़ ने शपथ ली कि वह आत्म-रक्षा में जुट जाएगी। एकजुटता कैसे प्रदर्शित हो? किसी ने पास के मैरोनिए के पेड़ से तीन हरी पत्तियों तोड़कर अपने टोप में लगा लीं। तमाम भीड़ ने ऐसा ही किया। कुछ ही घण्टों में यह हरी कलगी पेरिस की जनता के बीच क्रांति के प्रतीक के रूप में स्थापित हो गई।

भीड़ हर तरफ हथियारों की तलाश में जुट गई। पेरिस के बीच से बहने वाली नदी सैन में एक नाव में भारी मात्रा में बारूद मिली। इसी खोज के दौरान एक चर्च में पादरियों द्वारा इकट्ठा भारी मात्रा में गेहूं मिला। तंगी के दिनों में जनता वह गेहूं लूट सकती थी, लेकिन उसने सारा गेहूं बाजार भिजवा दिया और हर गाड़ी पर चर्च का एक भिक्षु बैठा दिया जो हिसाब-किताब रख सके। ऐसी भीड़ को क्या कहा जाएगा? निश्चित ही उसे अराजक नहीं कहा जा सकता जबकि ऐसी उत्तेजक स्थिति में कुछ भी उचित-अनुचित कर बैठना स्वाभाविक होता। कभी-कभी भीड़ को भी कोई ऐतिहासिक क्षण अनुशासित कर देता है।

पेरिस की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार बसांवाल की परेशानी बढ़ती जा रही थी क्योंकि हर पल हलचल बढ़ रही थी। उसे डर था कि अगर उसने फौज का इस्तेमाल किया तो रक्तपात होगा ही। चाहे जिधर का खून बहे होगा कीमती। और फिर लाभ क्या होगा? वह इस बात से बहुत चिन्तित था कि दरबार तीन लाख विद्रोहियों की भीड़-भाड़ और क्रांति को विद्रोह मात्र समझने की एक जिद पर अड़ा हुआ था। उसने बाद में लिखा कि 14 जुलाई को पांच बजे सुबह एक नौजवान उसके कमरे में घुस आया और निर्भीक भाव से बोला : 'शहर में जितने भी अवरोधक लगाए गए है उन्हें जला दिया जाएगा (फ्रांस में लोग आन्दोलित होने पर रास्तों पर 'बैरीकेड' खड़ा कर उसे अवरूद्ध कर देते हैं और इस प्रकार अपना विरोध प्रकट करते हैं (यह प्रवृत्ति आज भी कायम है। यह काम कभी-कभी सरकार भी करती है, आन्दोलनों को नियन्त्रित करने के लिए)। मैं चेतावनी देना आया हूं कि बेकार में लोगों की बलि न चढ़ाएं। यह आग बुझेगी नहीं।' सामान्य स्थित में उस नौजवान को गिरफ्तार हो जाना चाहिए था लेकिन जब तक अवाक सेनापति कोई निर्णय लेता, नौजवान बाहर जा चुका था।

उधर बास्तीय का प्रशासक **द लोने** बहुत घबराया हुआ था। वह बार-बार अतिरिक्त सुरक्षा की मांग कर रहा था। आखिर 7 जुलाई को 32 स्विस सिपाहियों की टुकड़ी आ पहुंची। उनका कमाण्डर था **लूई दफ्लू**। उसने लिखाहै कि **द लोने** हरदम

शिकायत करता रहता था कि किले की सुरक्षा का प्रबन्ध ठीक नहीं हैं आक्रमण हुआ तो रक्षा कर पाना मुश्किल हो जाएगा। लूई उसे बार-बार आश्वसत करता था लेकिन उसका कोई असर नहीं था। इसी लूई ने पेरिस की जनता के बारे में बाद में बताया कि जब वह बास्तीय पर हमले के दौरान भागकर टाउन-हॉल पहुंचा तो पहले तो लोगों ने उसे सजा देनी चाही क्योंकि वह बास्तीय की सुरक्षा कर रहा था लेकिन जब उसने बताया कि वह तो बस आज्ञा का पालन कर रहा था, और अब वह पेरिस और देश की सुरक्षा को समर्पित था तो लोगों ने उसे माफ कर दिया और उसकी तारीफ की। द लोने ने इस बीच तोपों का मुंह शहर की ओर कर दिया था। यह आक्रामक रुख था। स्थिति विस्फोटक होती जा रही थी।

14 जुलाई की सुबह। एक अजीब माहौल था। एक तरफ टाउन-हॉल पर एक भीड़ इकट्ठा थी जो आत्मरक्षा के लिए हथियार मांग रही थी। दूसरी ओर, बास्तीय की ओर पड़ने वाले पेरिस के मुहल्ले सैतांतुआन की जनता ने जन-प्रतिनिधियों से शिकायत की कि बास्तीय का गवर्नर आक्रमण की तैयारी कर रहा है। जन-प्रतिनिधियों ने एक शिष्ट मण्डल बास्तीय भेजा। किले के पास इकट्ठा भीड़ लगातार हथियारों की मांग कर रही थी। द लोने ने शिष्ट मण्डल को भोजन कराया और साफ कह दिया कि हथियार तो नहीं दिए जा सकते हैं। तोपें हटाई जा सकती हैं। नीचे भीड़ का मूड तेजी से बदल रहा था। पहले वह केवल हथियार चाहती थी। अब कुछ लोग बास्तीय पर कब्जे की बात करने लगे थे। द लोने बढ़ती भीड़ और उसकी बढ़ती आक्रामकता देखकर बहुत घबरा गया। इसी घबराहट में उसने गोली चलाने का हुक्म दे दिया।

इसके बाद जो कुछ हुआ वह ऐतिहासिक है। दोपहर तीन बजे तक भीड़ का आक्रमण जारी रहा। उस वक्त कुछ अनुभवी सैनिक भीड़ में जा मिले और आक्रमण में कुशलता आ गई। इस दौरान 83 लोग मारे जा चुके थे और 88 को चोटें आई थीं जिनमें से 15 नहीं बचे। इस बीच द लोने के सैनिकों ने आत्मसमर्पण का निर्णय ले लिया और वह उन्हें रोक नहीं सका। थोड़ी ही देर में किले के चारों ओर की खाई पर से उठा लिया गया पुल गिरा दिया गया और भीड़ अन्दर चली गई। शाम के पहले किले पर भीड़ का पूरी तरह कब्जा हो चुका था।

इन घटनाओं के एक चश्मदीद गवाह **केरबेर्सी** ने, जो बाद में क्रांति विरोधी हो गया था, लिखा है कि ऐसी अविश्वसनीय बहादुरी कुशल सेनाओं में भी देखने को नहीं मिलती। जनता के विभिन्न वर्गों और तरह-तरह के मजदूरों से बनी इस नेतृत्वहीन भीड़ ने असाधारण शौर्य का परिचय दिया।

आइए देखें कि इस भीड़ में कौन लोग शामिल थे। 1790 में 954 लोगों को 'बास्तीय के विजेता' कहकर सम्मानित किया गया। इनमें से 661 लोगों के पेशे के बारे में प्रमाण उपलब्ध हैं। इनमें से 186 सैतांतुआन मौहल्ले के लकड़ी उद्योग के मजदूर थे। कुछ सिपाही, छोटे दूकानदार और व्यापारी भी थे। कुछ मध्यवर्गीय और छोटे पूंजीपति भी थे। सबसे मजे की बात यह कि भीड़ में 8 साल के **लावले** से 72 के **क्रेतैन** तक शामिल थे, पर अधिकांश लोग जवान थे। यूं तो बहुमत पेरिस के लोगों का ही था, अधिकांश ऐसे थे जो रोजगार की तलाश में कुछ दिनों से ही पेरिस में रह रहे थे। इसमें 13 इतालवी, 12 जर्मन, 12 बेल्जियन, 1 हालैण्ड निवासी और एक स्विस भी थे। इस प्रकार यह अन्तर्राष्ट्रीय भीड़ थी।

स्वतःस्फूर्त ढंग से हुए इस आक्रमण में कुछ अनुभवी क्रांतिकारी भी थे। **पिएर दे लोदिएर** और लेफ्ट. एली जैसे कई लोगों ने अमरीका की आजादी की लड़ाई में अमरीकी लोगों की ओर से अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध लड़ा था। दूसरी ओर **यूम्बेर** और **यूलैं** ने जेनेवा के जनविद्रोह में हिस्सा लिया था। इन लोगों, ने विशेषकर यूलैं ने असाधारण साहस और शौर्य का परिचय दिया था। इस भीड़ में उन मध्यवर्गीय लोगों का पता नहीं था जो बाद में क्रांति के नेता बन बैठे।

ये लोग संवेदनशील और स्वतःस्फूर्त ढंग से काम करने वाले सामान्य लोग थे। इनकी आर्थिक स्थिति के बारे में पूरी जानकारी न होने के कारण ठीक से इनका वर्ग-विश्लेषण तो नहीं किया जा सकता पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इनका छठवां हिस्सा ही मध्यवर्ग और पेटीबुर्जुआ का था। शेष सभी कारीगर और मेहनतकश लोग थे।

जार्ज रूदे नामक इतिहासकार ने फ्रांसीसी क्रांति के दौरान भीड़ का गहरा अध्ययन किया है उसके अनुसार इस विद्रोही भीड़ की अमूर्त सामाजिक पहचान नहीं करनी चाहिए। इसमें शामिल लोग सामान्य थे जिनकी अलग-अलग जरूरतें थीं। ये विभिन्न कारणों से क्रियाशील थे। आर्थिक संकट, राजनीतिक हलचल, अपनी-अपनी विशेष और तात्कालिक जरूरतों को पूरा करने की इच्छा और लोगों की अपनी शिकायतें—सबने उन्हें उकसाया था। अगर हम आर्थिक कारणों पर अधिक जोर दें तो यह क्रांतिकारी आंदोलन 'रोटी के लिए दंगा' लगेगा, जो वह कभी नहीं था। इसलिए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कारणों को साथ रखकर ही भीड़ का सही मूल्यांकन हो सकता है।

यहां इस बात पर जोर देना आवश्यक हैं, भले ही संक्षेप में, कि फ्रांस के पूंजीपतियों ने पेरिस में मेहनतश जनता का इस्तेमाल करने में एक क्षण भी नहीं

गंवाया। जनता की जो भी भूमिका रही हो अंततोगत्वा विजय पूंजीपतियों की हुई। इसी संदर्भ में फ्रांस के प्रसिद्ध इतिहासकार **अलबेर सोबूल** का यह कथन महत्वपूर्ण है कि बिना पेरिस की जनता के पूंजीपति कभी सफल नहीं होते। क्रांति के प्रारंभिक वर्षों में इसी सामान्य मेहनतकश जनता ने क्रांतिकारी संघर्ष और राष्ट्रीय सुरक्षा के उपकरण के रूप में काम किया था।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि बास्तीय पर विजय के दौरान और उसके फौरन बाद जनता ने सीमा की अवहेलना की, अतिरेक किया, विशेष रूप से जब उसने द लोने, जैसे लोगों के कटे सिरों का प्रदर्शन किया। यह सब देखकर प्रसिद्ध साहित्यकार **शातोब्रिआं** ने चिल्लाकर कहा था: 'अरे बटमारो! यही तुम्हारा तरीका है स्वतंत्रता को समझने का?' इस दौरान जो मर्यादाएं भंग हुईं, भीड़ ने जो ज्यादतियां कीं और जिनके नाते क्रांतिविरोधी क्रांति की आलोचना करते नहीं अघाते उनकी स्वतंत्रता के प्रख्यात अंग्रेज पक्षधर **टामस पेन** ने बहुत अच्छी व्याख्या की है : 'ये अतिरेक क्रांति के सिद्धांतों का प्रभाव नहीं थे। ये क्रांति के पहले विकृत हो गए दिमागों की उपज थे। उन्हें ठीक करना क्रांति का लक्ष्य था।'

जनता ने बास्तीय को लूटा नहीं, उसे ध्वस्त किया। इस बात में सच्चाई है कि 14 जुलाई को तोप या बारूद की नहीं, नैतिक शक्ति की जीत हुई थी। लोगों के उत्साह ने ही यूलैं जैसे लोगों को असाधारण और अदम्य साहस दिया था। उत्साह अधिकांशतः स्वतःस्फूर्त था। मेहनतकश संगठित नहीं थे, न तो उनकी अपनी कोई पार्टी थी, न नारा, न कार्यक्रम। दूसरी ओर राजनीतिक सत्ता के लिए लालायित कुशल पूंजीपति वर्ग था जिसने शीघ्र ही नेतृत्वविहीन भीड़ को अपने पीछे कर दिया। इन पूंजीपतियों ने सामंतशाही के विरुद्ध संघर्ष कर एक प्रगतिशील भूमिका ही अदा की लेकिन **जब मेहनतकश की हिस्सेदारी का प्रश्न उठा तो वह सत्ता पर कुंडली मारकर बैठ गए और मेहनतकशों को पास तक नहीं फटकने दिया। बास्तीय के विजेताओं को कई पीढ़ियों तक फ्रांस और दुनिया के देशों में संघर्ष करना पड़ा तब** कहीं कुछ देशों में उनके हित में क्रांति हो पाई। अधिकांश देशों में आज भी बास्तीय जैसे सामंती और पूंजीवादी गढ़ों पर हमला जारी है—यह तेज होता जा रहा है। उनकी आलोचना आज वह लोग भी करते हैं जो बास्तीय के पतन को क्रांतिकारी मानते हैं।

फ्रांस की जनता ने बास्तीय जीता और उससे प्रेरणा लेती रही—क्रांति कर दुनिया को रास्ता दिखाया। भारत में चौरी-चौरा जैसे कितनों ही जगहों पर परिस्थितियों के दबाव में स्वतःस्फूर्त ढंग से जनता उठ खड़ी हुई और जुल्म के प्रतीकों को नष्ट कर दिया था, पर भारतीय नेताओं ने उन्हें अपने हित में नकार दिया, जनता को भटका

दिया और भारत की जनता आज भी जुल्म और शोषण के नीचे पिसती उन्हें ध्वस्त करने के संघर्ष में जुटती जा रही है। मेहनतकश और संघर्षरत लोगों के लिए बास्तीय पर हमला हमेशा प्रेरक बना रहेगा।

बास्तीय के पतन का इतिहास वास्तव में वह इतिहास है जिसका निर्माण जनता ने प्रत्यक्ष रूप से किया था। पर इसे भी इस तरह पेश किया जाता है कि श्रेय जनता को नहीं नेताओं को ही मिलता है। इसलिए जनता द्वारा वास्तव में निर्मित इतिहास को जनता के लिए प्रस्तुत करने की भी जरूरत है।

9. अतीतग्रस्तता और इतिहासबोध

अतीतग्रस्तता व्यक्ति को रूढ़िवादी, पुरातनपंथी, संकीर्ण, हताश, आत्मतुष्ट और प्रतिक्रियावादी बनाती है। इतिहासबोध व्यक्ति को मुक्त, भविष्योन्मुखी, उदार, आशावान, समष्टिवादी और प्रगतिवादी बनाता है। दोनों की जन्मभूमि है अतीत, बीता हुआ कल। पर एक की यात्रा कल से आज तक ही होती है और दूसरी कल से आज से कल तक। एक पीछे खींचता है, दूसरा आगे बढ़ाता है, एक व्यवधान है दूसरा रास्ता और दिशा, एक आंख का पर्दा है, दूसरी दृष्टि।

ऐसा क्यों होता है? क्यों अतीत दो तरह की मानसिकताएं पैदा करता है? इसलिए कि अक्सर लोग 'बीती ताहि बिसार दे' नहीं उसे खूंटा बनाकर उसी से बंधे जाते हैं और आसपास चरने लगते हैं। उनके लिए 'दादा कहले रहलैं सरसोइयै लदिहो' यानी बाप-दादों ने जो कहा-किया है वह ज्यों-का-त्यों सच और स्वीकार्य करना होता है। और यह गलत है। अतीत कितना प्रासंगिक है, कितना प्रवाहित है, कितना जीवंत है और इसलिए कितना आवश्यक और उपयोगी है यह जानना और चरितार्थ करना ही इतिहासबोध हैं।

आइए एक और तस्वीर देखें। एक हवेली—यूं कहिए कि थी। अब तो उसकी धूमिल छायामात्र है। किसी जमाने में उसकी रौनक थी, नाम था, रुतबा था। उसके मालिक मौज करते थे। बाहर वाले तारीफ करते न अघाते थे। फिर वह गिरी, चूने लगी, खंडहर होने लगी। बाहर से लोग आए तो कुछ ईंट या दरवाजे चुरा ले जाने या फिर कोई गलत काम करने के लिए। उसमें रहने वाले दो हैं। एक अपने वर्तमान से बहुत दुःखी है। दिन-रात बीते दिनों की याद में ठंडी आहें भरता है और कभी कोई मिल गया तो अपने पुरखों की बड़ाई करते नहीं अघाता। बाकी वक्त 'संतोष परम् सुखं' का मंत्र जपता आज के गम कल की खुशियों में डुबोता रहता है। दूसरा भी हवेली की हालत से उतना ही दुःखी है, बल्कि ज्यादा ही क्योंकि अनुपस्थित सुख से सुखी नहीं हो पाता। उसे बीते दिनों के गौरव की याद आती है। वह उद्विग्न हो चहलकदमी करने लगता है और उदास हो जाता है। धीरे-धीरे यह जानने की कोशिश करता है कि पहले उसका घर क्यों इतना सम्पन्न था? उसकी गरिमा का रहस्य क्या था? और फिर उसका पतन क्यों हुआ? कौन-सी स्थितियां, कौन-से कारण, कौन-से लोग जिम्मेदार थे? जैसे ही बात उसकी समझ में आती है, वह दुःख दूर करने के

प्रयास में डूबने लगता है। उसके सपनों का रूप-रंग बदलने लग जाता है—वह बीते कल के ही नहीं आने वाले कल के भी सपने देखने लगता है। और हवेली में मरम्मत की गुंजाइश नहीं हुई तो एक उपयोगी और आरामदेह आज की डिजाइन वाला घर बनाने में जुट जाता है। दोनों के दुःख की वस्तुगत स्थितियां एक जैसी हैं पर दूसरे की मनोगत स्थिति पहले से बेहतर है—अन्तर महज यह है कि पहला अतीतग्रस्त है, दूसरे को इतिहासबोध हो गया है।

अतीतग्रस्तता एक सहज प्रवृत्ति है, मुख्यतः असहाय बने अकर्मण्य लोगों की। सामान्य स्थितियों में व्यक्ति स्वप्नजीवी होता है यानी अतीत जो यथार्थ नहीं रहा और भविष्य जो अभी यथार्थ नहीं है, उन्हीं में जीता है। दोनों ही व्यक्ति की श्रम-शक्ति और ऊर्जा को नुकसान पहुंचाने वाली स्थितियां हैं। इतिहासबोध विशेष स्थितियों में विशेष प्रयास से पैदा होता है। उसमें सहजता नहीं सायासता, सजगता और सक्रियता प्रमुख तत्व है।

आइए, भारतीय इतिहास के माध्यम से ही इन्हें समझने की कोशिश करें। भारतीय समाज की प्राचीनकालीन उपलब्धियां महान थीं। भारत के लोगों ने भौतिक और आध्यात्मिक सुख को भली-भाँति समझा और उसके साधन जुटाए। जीवन और परिवेश, जीवन की दिशा और लक्ष्य पर अध्ययन-चिंतन-मनन-लेखन किया गया। वेद, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, उपनिषदों की रचना हुई। सुन्दर नगर बसाए गए, आकर्षक वस्त्राभूषण बनने लगे। अशोक की लाट बनाई गई जो हजारों साल से मौसम की तानाशाही को मुंह चिढ़ाती रही है। काव्य, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, रसायन, सौन्दर्यशास्त्र, कामशास्त्र, पाकशास्त्र का असाधारण विकास हुआ।

साथ ही लोक केन्द्रित ज्ञान को, दर्शन को, दबाया गया, 'कर्मणा' वर्ण को 'जन्मना' बनाया गया, समाज की विषमता दैवी और नैसर्गिक करार दी गई, मानवीय शक्तियों की प्रतिष्ठा की गई, वर्जना का संसार बढ़ता गया, मनुस्मृति जैसी मानव-विरोधी संकीर्ण स्थापना को सामान्य नियम बनाया गया।

'आत्मवत् सर्व भूतेषु' कहते हुए भी अस्पृश्यता और मनुष्य द्वारा मनुष्य के तिरस्कार को धार्मिक स्वीकृति दी गई। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यते, रमंते तत्र देवता' कहते हुए भी नारी को इस तरह स्थापित किया गया कि एक पुरुष की पांच पत्नियां हो सकती थीं और पांच पुरुष अपनी मरजी से नारी की मरजी से नहीं, एक नारी के पति हो सकते थे और उसे जुए में दांव पर लगा सकते थे, हार सकते थे और उसके भयानक अपमान को शक्तिशाली होते हुए भी, चुपचाप बर्दाश्त कर सकते थे, मर्यादा के लिए—जैसे अपनी पत्नी की इज्जत बचाने से भी बड़ी कोई मर्यादा हो। नारी हारी

जा सकती थी और अपनी पवित्रता के लिए अग्नि-परीक्षा देने के बावजूद शंका की दृष्टि से देखी जा सकती थी, त्याग दी जा सकती थी। शूद्र होने के कारण, तपस्वी होने के बावजूद, शम्बूक की हत्या हो सकती थी; ऐसे कारण से जिस पर उसका कोई बस नहीं—यानी उसका जन्म। एकलव्य का अंगूठा निर्लज्जतापूर्वक मांगा जा सकता था और मूर्खतापूर्वक दिया जा सकता था।

यह सब इतिहास नहीं पर अतीत के सुरक्षित जीवन-मूल्य हैं जिन्हें सदियों से हिन्दू भारतीय मानव आदर्श समझता रहा है। इन पर ऐसे प्रश्न उठाना धर्म और मर्यादा का उल्लंघन माना जाता रहा है और उसके लिए लोगों को सजा मिलती रही है—साहित्य में भी और इतिहास में भी।

ऐसे भारत पर अपने वर्तमान से असंतुष्ट आज के दो व्यक्ति नजर डालते हैं। एक, आज की तपती धूम से आक्रांत कल की शांत छाया में पहुंच आराम से टांगें फैलाता है और सो जाता है। दूसरा छांव में दम लेता है, अगली यात्रा की योजना बनाता है और आगे चल पड़ता है।

एक को आज के भारत में बढ़ती अनैतिकता, अनाचार, भ्रष्टाचार, मूल्यह्रास नजर आता है। वह अतीत में नैतिकता, सदाचार, ऊंचे जीवन-मूल्य और सुखी समाज देखता है। उसे उस समाज की बुराइयां नजर नहीं आतीं। वह उपलब्धियों की विरासत की धूप सेंकता है। आज भी वैसे ही समाज का सपना देखता है। हिन्दू हुआ तो रामराज्य की बात सोचता है, रामराज्य जिसमें सीता की अग्नि-परीक्षा और शम्बूक की धर्म-रक्षक राम द्वारा हत्या हुई थी। मुसलमान हुआ तो उन दिनों के ख्वाब देखने लगता है जब इस्लाम की स्पेन से चीन तक तूती बोलती थी, भले ही नदियों में खून बहने लगता हो। ईसाई या यहूदी हुआ तो सोलोमन के न्यायपूर्ण राज्य की याद में खो जाता है और भूल जाता है कि ईसाई सम्प्रदाय आपस में विध्वंसक युद्ध लड़ते रहे हैं।

दूसरा वेदव्यास, बाल्मीकि, कौटिल्य, अकबर, शाहजहां, निजामुद्दीन औलिया, सेंट जेवियर ओर नानक आदि को ही नहीं उन समाजों को भी देखता है जिनमें वे पैदा हुए। वह यह भी जानने की कोशिश करता है कि उन्होंने क्या और क्यों किया, किसके हित को आगे बढ़ाया और उसमें कितनी सफलता या असफलता मिली और क्यों? वह समझने लगता है कि शम्बूक क्यों मारा गया और एकलव्य का अंगूठा क्यों कटता है? वह जान लेता है कि आज उनके आचार-व्यवहार नीति में परिवर्तन है कि नहीं—है तो क्यों? वह गौरवान्वित भी होता है और शर्मिन्दा भी।

एक के लिए अतीत अपने में जिन्दा हैं। वह सतह पर जीता है। कल्पना-लोक में जीता है। दूसरे के लिए अतीत वर्तमान और भविष्य से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा

हुआ है। वह आज के यथार्थ में इस तरह जीता है कि वह कल के यथार्थ का उत्तराधिकारी हो। पहले को आज की समस्याओं का निदान कल की बातों में दिखाई देता है, दूसरा यह जानता है कि बीता कल निकली हुई सांस है जो उसी रूप में कभी लौटेगी नहीं। वह आज की स्थितियों का स्रोत कल में देखता है, आज की समस्याओं की जड़ें कल में देखकर निदान आज या आने वाले कल में ढूंढ़ता है।

और अधिक निकट के इतिहास के माध्यम से इन दो मनःस्थितियों को समझने की कोशिश करें। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद नई परिस्थितियों में उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ नई गतिविधियां, नए आंदोलन, नया नेतृत्व, नई चेतना विकसित होती दिखाई देती है। इसे सामान्यतः भारतीय पुनर्जागरण कहा गया है (उन अर्थों में पुनर्जागरण नहीं जिनमें 15वीं, 16वीं शताब्दी का मूल यूरोपीय पुनर्जागरण हुआ था)। इस दौरान विचार के स्तर पर तीन स्थितियां उभरती हैं: (1) भारतीय समाज की प्राचीन उपलब्धियों की याद और उन्हें पुनर्जीवित करने का प्रयास। (2) पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को श्रेष्ठ मानकर भारतीय परम्पराओं को पूरी तरह नकारना और पाश्चात्य का अंधानुकरण करना। (3) पूरब-पश्चिम तथा पुरातन-आधुनिक का अस्पष्ट समन्वय।

इन तीनों को भी निचोड़ा जाय तो दो धाराएं मिलेंगी। एक परम्परा और परिवर्तन को प्रगति से जोड़कर इतिहास को आगे ले जाने वाली धारा। दूसरी, परम्परा को रूढ़ि रूप में ग्रहण कर परिवर्तन के स्थान पर यथास्थिति या उसके पोषक परिवर्तन की पक्षधर धारा। एक इतिहासबोध का परिणाम है, दूसरा अतीतग्रस्तता का।

वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय समाज के संक्रमण की स्थिति स्पष्ट हो चुकी थी। भारतीय नैसर्गिक प्रगतिशील धारा को प्रतिगामी बना देने में अंग्रेजी शासन सफल हो गया था। भारतीय अर्थव्यवस्था की स्वतंत्र अस्मिता पूरी तरह समाप्त हो चुकी थी और उसमें सामंती तत्व आरोपित किए गए थे और उन्हें पाला-पोसा जा रहा था। शोषण के नए-नए रूप विकसित हो गए थे और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शोषण बहुत बढ़ गया था।

दूसरी ओर 1857 के महाविद्रोह की पराजय के धक्के से भारतीय समाज उबरने लगा था। साथ ही अंग्रेजी सरकार को अपने हित में कुछ ऐसे काम करने पड़े थे जिनका दूरगामी परिणाम हुआ था। जैसे, अंग्रेजी शिक्षा को प्रश्रय और सरकारी भाषा बनाना, भारतीयों को नौकरियों में लेना, शासन व्यवस्था और समाज में विभिन्न स्तरों पर भारतीयों की भागीदारी, सड़कों, यातायात परिवहन संचार के माध्यम विकसित करना। इन सबके मिले-जुले पहले परिणाम के तहत भारत में नये लोग पैदा

हो गए थे जो स्थिति को समझने लगे थे और जो असन्तोष को पहचानकर अभिव्यक्ति दे सकते थे। उसके निदान की बात भी सोच सकते थे। यह नया वर्ग एकदम किशोर था, असुरक्षित था और अपनी हैसियत के आधार भी विकसित कर सकता था। ऐसे में उसकी प्रेरणा का स्रोत मानव सभ्यता की उपलब्धियां, स्वयं उसके देश का अतीत या फिर दोनों ही हो सकते थे।

भारत जैसी बहुमुखी प्रतिभा वाले देश की जनता की क्षमताओं और संभावनाओं को विदेशियों ने, विशेषकर अंग्रेजों ने, अपनी तरह भांप लिया था। यह उनके हित में था कि भारतवासी अपने वर्तमान और भविष्य की जगह अपने अतीत के बारे में अधिक सोचें या वर्तमान से दुःखी हों तो अतीत से उसे सांत्वना मिले। इस प्रकार संगठित रूप से भारत के प्राचीन काल को गरिमामंडित करने का प्रयास हुआ। जाग रहे भारत के कुछ लोगों ने उस अतीत को पुनर्जीवित करने में ही अपना और देश का कल्याण समझा। परिणाम यह हुआ कि फारसी और संस्कृत जैसी भाषाओं और सतीदाह जैसे सामाजिक रोगों की वकालत से वैदिक समाज को आदर्श बनाने तक कई पुनरुत्थानवादी कोशिशें होती रहीं। इसी प्रकार अतीत को एकदम नकारने और पुराने वर्क पर नई इबारत लिखने जैसी बात को भी मानकर पुराना पन्ना ही फाड़ देने की दलील दी गई। वर्णाश्रम धर्म और मनुस्मृति संगत एक विषम और नियतिवादी समाज, जिसमें मनुष्य की अस्मिता तथा शक्ति और प्रगति की अनिवार्यता को नकारने की दलील दी जाती हो, के पुनरुत्थान या पूरी तरह आरोपित समाज, आयातित निर्मूल समाज की लालसा, दोनों ही इतिहास को नकारते हैं।

वास्तव में अतीतग्रस्तता इतिहास की पुनरावृत्ति पर विश्वास करती है जो अपने में अवैज्ञानिक और असंभव है। इतिहासबोध यह बताता है कि बीता हुआ कुछ भी नहीं वापस आता, पर बीता हुआ कुछ भी एकदम बीत नहीं जाता। अतीतग्रस्तता समाज का शोषण करने वालों और उनके उपकरणों के पक्ष में खड़ी होती है। इतिहासबोध, उनके साथ है जो समाज को मेहनतकश के हम में बदल देना चाहते हैं, उसके लिए इतिहास का सार संकलन करना चाहते हैं और उसके आधार पर आज की रणनीति तय करते हैं, अपनी दिशा पहचानते हैं और उस ओर अग्रसर होते हैं। दोनों में अंतर मूलभूत है—विश्वदर्शन का अंतर, जीवन-मूल्यों का अंतर जीवन-पद्धति का अंतर, सरोकारों का अंतर। अतीतग्रस्तता इतिहास को ही नकार देती है। इतिहासबोध इतिहास के अस्तित्व का कारण और उसका सार है। जैसे 'जीवन' (गति और परितर्वन) न हो तो जीना निरर्थक है वैसे ही इतिहासबोध न हो तो इतिहास की कोई उपयोगिता नहीं होगी।

10. कैसा हो इतिहासकार : राहुल सांकृत्यायन

यह सच है कि हिन्दी में कोई गिब्बन या टायनबी या हॉब्सबाम जैसा इतिहासकार नहीं हैं। पर यह भी उतना ही सच है कि शायद किसी भी भाषा में राहुल सांकृत्यायन जैसा इतिहासकार नहीं होगा।

इतिहास की रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करती इस किताब में इतिहासकार के मॉडल के रूप में किसी का चुनाव आसान नहीं था। पर हम दो नामों को दृढ़तापूर्वक चिह्नित कर सकते हैं—डी.डी.कोसंबी और राहुल सांकृत्यायन। राहुल को ही चुनने का कारण यह है कि वह कोसंबी जैसे मौलिक और पथ-प्रदर्शक इतिहासकार नहीं, पर 'जन इतिहास जन के लिए' के निश्चित ही सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।

आखिर आदर्श इतिहासकार को कैसा होना चाहिए? उसे न केवल इतिहास के संदर्भ में 'क्यों', 'क्या' और 'कैसे' जैसे प्रश्नों का उत्तर आना चाहिए, उसे इतिहास की अवधारणा और पद्धतियों के बारे में ठीक से पता होना चाहिए और अपनी विश्वदृष्टि के बारे में सचेत होना चाहिए (तटस्थ बुद्धिजीवी या तो पाखंडी होता है या बकवास)। ऐसा इतिहासकार जानेगा कि इतिहास का सर्वोच्च लक्ष्य है इतिहास-निर्माण की चेतना पैदा करना। वह अपनी पद्धति में पूरी तरह वस्तुपरक होगा पर वह अपनी विचारधारा में पक्षधर हो सकता है—बल्कि होना ही चाहिए। वस्तुपरकता और निष्पक्षता पर्यायवाची नहीं हैं। वैसे तो किसी बुद्धिजीवी-बुद्धिमान-ज्ञानवान, से अपेक्षा की जाती है कि उसका सामाजिक सरोकार होगा—वह समाज को बौद्धिक सहयोग प्रदान करेगा—पर एक इतिहासकार के लिए तो यह अनिवार्य होना चाहिए कि वह 'सामाजिक ऐक्टिविस्ट' हो क्योंकि इतिहास के सार संकलन से प्राप्त इतिहासबोध उसे इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त और समर्थ बनाता है।

उपर्युक्त विमर्श राहुल के चुनाव को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक था। यह सही है कि राहुल उपर्युक्त कसौटी पर पूरी तरह खरे नहीं उतरते। पर अन्य तो उन जैसे भी नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की संक्षिप्त रूपरेखा भी हमारी बात को स्पष्ट कर देगी।

राहुल का जन्म 9 अप्रैल, 1893 में आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) के एक पिछड़े गांव में हुआ था। केदारनाथ पांडे नामधारी बालक को ठीक से औपचारिक शिक्षा नहीं

मिल सकी और वह भौतिक तथा बौद्धिक जगत में भटकता-विचरता विकसित होता गया। हिन्दू मठों, आर्य समाज मंदिरों और बौद्ध विहारों से गुजरता हुआ, उन पर्यावरणों को आत्मसात् करता हुआ, असाधारण यात्राएं करता हुआ वह किसानों-मजदूरों के बीच आ ठहरा और अर्धशिक्षित से महापंडित बन अंततः जंनशिक्षक बन गया। निराली प्रतिभा का धनी केदार महापंडित राहुल सांकृत्यायन की तरह प्रतिष्ठित हुआ और ज्ञान-विज्ञान-दर्शन के सार संकलन ने उसे इस विवेक तक पहुंचाया कि ज्ञान सामाजिक उत्पाद् है और उसे सामाजिक परिवर्तन में ही लगाया जाना चाहिए। फिर तो अपनी सारी ऊर्जा, सारा कौशल, समस्त सम्पृक्ति, सारा विवेक उसने वैज्ञानिक-चेतना के विस्तार में खपा दिया। राहुल को हिन्दी के साथ ही संस्कृत, पाली, प्राकृत, अरबी, फारसी, उर्दू, चीनी, तिब्बती, अंग्रेजी और अन्य कई भारतीय और यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान था। पर उन्होंने अपना लेखन हिन्दी में किया। इसी तरह उन्होंने साहित्य, दर्शन, यात्रा-वृत्तांत, भूगोल, भाषा-मीमांसा और न जाने किन-किन विषयों में काम किया पर मुख्यतः इतिहास को समृद्ध किया। जाहिर है वह इतिहास को जनचेतना का सबसे कारगर उपकरण समझते थे और जनभाषा—अपनी भाषा, को सबसे उपयोगी माध्यम।

उन्होंने 10 उपन्यास, 4 कहानी-संग्रह, 8 नाटक, 19 जीवनियां, 5 भागों में अपनी आत्मकथा—9 भागों में विभिन्न लेख, 24 यात्रा वृत्तांत, 8 राजनीतिक किताबें—एक विज्ञान पर, एक समाजशास्त्र पर, 3 दर्शन पर, एक लोक-साहित्य पर, 9 धर्मों पर लिखीं। उन्होंने इतिहास पर 5 और साहित्य के इतिहास पर 3 किताबें लिखीं। उन्होंने 20 पुस्तकें संपादित की और 11 का अनुवाद किया। और यह विवरण अभी अपूर्ण है।

बहरहाल यहां हम इतिहासकार राहुल को चिह्नित करना चाहते हैं। उनके इतिहास संबंधी लेखन को हम निम्नलिखित तरीके से श्रेणीबद्ध कर सकते हैं:

1. मध्य एशिया का इतिहास : उनके अपने शोध पर आधारित है और प्रकाशन के समय वह इस विषय पर सबसे आगे बढ़ा हुआ काम था—यहां तक कि यूरोप के विद्वानों ने भी इसकी मदद ली।

2. 'अकबर' उनका शोध नहीं है पर ज्ञात स्रोतों की व्याख्या मौलिक है।

3. 'पुरातत्व निबंधावली' में पुरातत्व संबंधी लेखों का संग्रह है जिसमें उन्होंने गांव के घूरे पर पड़े ठीकरे की भी आवाज सुनने की अर्थवत्ता बताई। उन दिनों क्या आज भी भारत में पुरातत्व का महत्व पूरी तरह आत्मसात् नहीं हुआ है। ऐसे में उन्होंने उस समय पुरातत्व को सबसे विश्वसनीय इतिहास स्रोत सिद्ध किया।

4. वोल्गा से गंगा और इस कोटि की अन्य किताबें ऐतिहासिक गल्प हैं। हिन्दी में कोई होवर्ड फास्ट नहीं जो ऐतिहासिक गल्प को इतिहास जैसी ही अर्थवत्ता प्रदान करे पर राहुल ने कल्पित इतिहास के सहारे इतिहास के सत्य को जन-जन तक पहुंचाने में अद्वितीय काम किया।

5. साहित्य और दर्शन के इतिहास की किताब दर्शन-दिग्दर्शन आदि।

6. 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' जैसी पुस्तकें जो इतिहास नहीं इतिहासबोध की पुस्तकें हैं। इनमें इतिहास-निर्धारित दायित्वबोध और दिशाबोध पर जोर है।

कुछ किताबों के थोड़ा विस्तार में जाएं।

मध्य एशिया का इतिहास में 1300 पृष्ठों में बोल्शेविक क्रांति तक के उस क्षेत्र के इतिहासलेखन में उन स्रोतों का भी इस्तेमाल है जिन्हें सोवियत पुरातत्ववेत्ताओं ने ही ढूंढ़ा था। राहुल ने स्पष्ट दिखाया कि मध्य एशिया के पूर्वी भाग पर चीन, उत्तरी पर रूस तथा दक्षिणी पर ईरान का प्रभाव रहा था। कुल मिलाकर पहले चीनी और बाद में रूसी प्रभाव ही हावी रहा था। लेकिन जहां तक संस्कृति का सवाल है, इस पूरे क्षेत्र पर ईरानी सांस्कृतिक वर्चस्व कायम हो गया था। इस इतिहास में सामाजिक-सांस्कृतिक के साथ ही आर्थिक-राजनीतिक पक्ष पर भी जोर था।

अकबर एक विवादास्पद पुस्तक रही है। इसमें व्याख्या की मौलिकता विश्वविद्यालीय इतिहासकारों के मुकाबले अधिक है। राहुल अकबर को अशोक और गांधी के बीच में रखते हैं। उनके हिसाब से तीनों ने ही भारतीय राष्ट्र को सींचा है। वह अकबर को संगठक और राणाप्रताप को विघटक शक्ति सिद्ध करते हैं। इस किताब में ही अकबर के साथ ही उसके 'नवरत्नों' का और तत्कालीन बौद्धिक उद्वेलन का विश्लेषण मिलता है।

वोल्गा से गंगा, सिंह सेनापति और जय यौधेय असाधारण कल्पित इतिहास है पर ऐतिहासिक सत्य का निर्वाह करते हुए। वोल्गा से गंगा तो एशिया के इतिहास, विशेषकर भारत के, की ऐसी सैर है जिसमें सामान्य पाठक भी रम जाता है और अपने अतीत की सजीव कल्पना करने में समर्थ हो जाता है। पर साथ ही अतीत को वर्तमान से जोड़ भी लेता है। यही है राहुल के इतिहासलेखन की विशिष्टता। यही होनी चाहिए किसी भी इतिहास की विशिष्टता।

उनका लिखा दर्शन और साहित्य का इतिहास उन्हें सीधे समग्र इतिहास से जोड़कर चलता है। 'पाली साहित्य का इतिहास', 'हिन्दी काव्यधारा' और 'दक्खिनी काव्यधारा' न केवल कुछ असाधारण तथ्य और व्यापकतम परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हैं—साहित्य को समाज के इतिहास में अवस्थित करते हैं।

उनकी पुस्तिकाएं--**तुम्हारी क्षय, भागो नहीं दुनिया को बदलो** आदि इतिहास की उपयोगिता के लिए तर्क जुटाते हैं। इतिहास के दुरुपयोग से उपजी संकीर्णता से टकराने के लिए इनमें राहुल ऊर्जा और दृष्टि का संचार करते हैं।

कहा जाता है कि इतिहास जानने से पहले इतिहासकार को जानना चाहिए क्योंकि इतिहास इतिहासकार द्वारा अतीत की पुनर्रचना होती है। इसलिए उसमें इतिहासकार का समग्र व्यक्तित्व उपस्थित होता है। राहुल का संघर्षशील, विकासशील और सृजनशील व्यक्तित्व उनके इतिहास लेखन की चालक शक्ति है। उनका इतिहासलेखन इतिहास-निर्माण जैसा है। उन्होंने स्वयं तो इतिहास रचा ही उनके लाखों पाठक भी इतिहास-निर्माण की दृष्टि और ऊर्जा उनके लेखन से पाते रहे हैं।

सामाजिक भौतिकी की अवधारणा के जनक **ओगुस्त कोम्त** और उनके मानसपुत्र 'समाजशास्त्र' ने समाज के नियमों को जानने पर जोर दिया था। मार्क्स-एंगेल्स ने उन नियमों का आविष्कार कर उन्हें सामाजिक परिवर्तन में इस्तेमाल करने पर जोर दिया था और इसके लिए समाज के इतिहास को प्रयोगशाला की तरह इस्तेमाल किया था। मार्क्सवाद को अपनी अंतिम प्रेरणा-दृष्टि मानकर राहुल ने इतिहास को सामाजिक परिवर्तन के लिए ही इस्तेमाल किया। उनका लेखन उसी परिवर्तन का उपकरण था। वह उसे लगातार विकसित करने में अनथक स्वाध्याय, चिंतन, मनन, शोध और लेखन करते रहे।

राहुल पेशेवर इतिहासकार नहीं थे—उन्हें तो औपचारिक शिक्षा मिली ही नहीं थी। उन्होंने स्वाध्याय-शोध और प्रस्तुति की अपनी पद्धति और शैली विकसित कर ली थी। उसमें कई बार जल्दीबाजी, कम तथ्यों पर भी सूत्रीकरण-सामान्यीकरण, पूर्वाग्रहों पर अपेक्षित नियंत्रण की कमी और तात्कालिकता का प्रभाव परिलक्षित होता है और उनके आलोचकों को पथ्य मिल जाता है। अकादमिक क्षेत्रों में उन्हें बाद तक मान्यता नहीं मिली—इतिहास में तो कभी नहीं। पर सामान्य पाठकों ने उनके इतिहास को गुरु-गंभीर इतिहासों के मुकाबले अधिक स्वीकारा है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि उनका अधिकांश लेखन स्वतंत्रता आंदोलन के संक्रमण काल में हुआ। उनके लिखे इतिहास पुराने पड़ रहे हैं पर नई बनी हुई है वह उत्प्रेरणा जो किसी को इतिहास का लेखक और पाठक बनाती है।

अब उनके ही जैसा इतिहासकार बनने की जरूरत नहीं पर इतिहासकार बनने में उनके उदाहरण की भूमिका बनी रहेगी।

11. इतिहास में भी दलित

आज तो अपने-अपने अजनबी बने जोग वर्तमान में भी अजनबियत के शिकार हैं। ऐसे में अतीत को, जिससे निजता पैदा करने में इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, प्रासंगिक और आवश्यक समझ कर उससे तभी जुड़ा जा सकता है जब उससे कोई अपनापन पैदा हो। सभी अपना अतीत अपने तरीके से जीते ही हैं—कभी अतीतोन्मुख होकर, कभी अतीतग्रस्त होकर पर अतीत को अतिहास और इतिहास को इतिहासबोध बनाने के लिए अतीत का वही सारसंकलन प्रयुक्त होगा जो न तो ऊपर से हो न नीचे से (हिस्ट्री फ्राम बिलो)। वह जहां भी रचा जा रहा हो वहीं उजागर हो और समदर्शी हो।

परन्तु प्रायः यह हो नहीं पा रहा है—आज भी, जब इतिहास महापुरुषों की जीवनी नहीं रहा, आज भी, जब जन-इतिहास की अवधारणा धीरे-धीरे स्वीकार्य होती जा रही है, आज भी जब इतिहासलेखन की सबसे प्रमुख धारा मार्क्सवादी यानी-ऐतिहासिक-भौतिकवादी है जो मेहनतकश को ही इतिहास का निर्माण मानती है, आज भी इतिहास मुख्यतः नागर अभिजनों, उनमें भी मुख्यतः पुरुषों की कहानी कहता है। रजिया या एलिजाबेथ का जिक्र अपरिहार्य अपवाद स्वरूप होता है। बच्चे तो इतिहास का विषय होते ही नहीं—उनमें बचपना जो होता है और इतिहास तो वयस्क 'गंभीर' लोगों से सरोकार रखता है। इसी तरह किसी गुलाम, किसान या मजदूर का जिक्र तब आता है जब वह स्पार्टकस या बिरसामुंडा या पावेल हो जाय।

उनका जिक्र हो भी जाय तो उन्हें प्रस्तुत करने का नजरिया तो उनका अपना नहीं होता—उन्हें लेखक अपने ढंग से मूल्यांकन करके पेश करता है। इसलिए इतिहास में नारी या दलित का नजरिया नहीं होता—यानी बहुमत का नजरिया नहीं होता। अगर ऐसे में दलित इस इतिहास को नकारे तो अपना ही नहीं इतिहास का भी भला करेगा। यहां यह बात अच्छी तरह चिह्नित होनी चाहिए कि नकार मात्र पर्याप्त नहीं—सकार में वैकल्पिक रचना आनी ही चाहिए। उस दिशा में ही यह प्रारंभिक चिंतन एक शिशु-प्रयास है।

बात दलित साहित्य के माध्यम से सुस्पष्ट की जा सकती है। दलित समस्या जब

से है तब से उस पर विचार का क्रम भी है। कभी नियति और कर्मफल के षड्यंत्रात्मक घटाटोप के माध्यम से प्रतिकार की संभावना को ही नकार दिया जाता था। दंड और अवमानना की तलवार लटकती ही नहीं गिरती भी रही। संवेदनशील कवियों ने भी जब अपना पक्ष चुन लिया तो नारी समेत सभी दलितों को ताड़न का ही अधिकारी बताया गया।

लेकिन दूसरी ओर मुक्ति आंदोलन के दौरान सारे देश में दलित भक्तों की मुखरता ने समस्या को चिह्नित किया था पर अभिजन की सर्वशक्तिमानता ने उसे हाशिए पर ही बनाए रखा। आधुनिक काल में नागर और मध्यवर्गीय जागरण की प्रकृति हिन्दू-स्वर्ण के हित पोषण की थी फिर भी नए माहौल में दलित में भी चेतना का संचार हुआ। उससे ज्योतिबा-सावित्रीबाई फुले से डा. भीमराव अम्बेडकर तक की सामाजिक-संस्कृतिक से राजनीतिक तक यात्रा पूरी हुई। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान साहित्य में दलित के प्रति सहानुभूति ही नहीं तदनुभूति तक अभिव्यक्त होने लगी। परन्तु जब दलित साहित्य के रूप में पिछले दो-तीन दशकों के दौरान पहले महाराष्ट्र फिर अन्य क्षेत्रों में एक सुकेन्द्रित 'असरशन' शुरू हुआ तो सक्रिय मध्यवर्ग के कान खड़े हुए। तरह-तरह के विवाद खड़े हुए और जारी हैं। पर आज हकीकत यह है कि साहित्य में दलित उपस्थिति अपनी शर्तों पर मौजूद है और अनिशेधेय हैं। दलित लेखक आज प्रेमचंद और निराला जैसे निर्विवाद श्रेष्ठता से विभूषित साहित्यकारों को भी कठघरे में खड़ा कर रहे हैं और उत्तर में या तो ब्राह्मणवादी दम्भ है या मानकों का तर्क है जो प्रश्नों को हल नहीं करता।

इसी तरह इतिहास पर गौर करें।

राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान केवल शासकों की खिड़की से अतीत में झांकने का चलन छोड़कर सामाजिक-आर्थिक और एक हद तक सांस्कृतिक इतिहास लिखने का चलन शुरू हुआ। एक तो यूरोप केन्द्रित चेतना में यूरोपीय इतिहासलेखन का प्रभाव शामिल था। दूसरे, भारतीय जागरण से भी पहले प्राचीन भारत में पश्चिम की रुचि के कारण उद्घाटित प्राचीन भारत का इतिहास मुख्यतः सांस्कृतिक इतिहास था। यह सच है कि वह संस्कृति भी शासक वर्गों की संस्कृति थी। फिर भी उसका फलक विस्तृत था।

जब ज्योतिबा फुले ने बीड़ा उठाया तो गुलामी के विरुद्ध और सत्यशोधन के अभियान में इतिहास की व्याख्या शामिल थी। डॉ. अम्बेडकर ने अपने विशद ज्ञान क्षेत्र में इतिहास को निर्णायक माना और उनकी समुचित दलित व्याख्या की। दूसरी ओर ऐतिहासिक भौतिकवाद से उत्प्रेरित मार्क्सवादी इतिहासलेखन ने निश्चित ही

इतिहास का फलक व्यापक बनाया। अर्थव्यवस्था के केन्द्र में आते ही समाज का मेहनतकश केन्द्र में आ गया। उसकी भूमिका इतिहास में चिह्नित होने लगी। पर दलित सर्वहारा के रूप में तो वहां उपस्थित था पर अछूत के रूप में नहीं —उसका आर्थिक शोषण तो विषय था पर सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पीड़न उसी शिद्दत के साथ नहीं उपस्थित था।

पिछले तीन दशकों के दौरान किए गए 'सब आल्टर्न स्टडीज' ने हर तरह के दलित को अपने 'नीचे से इतिहास' प्रोजेक्ट का विषय बनाया। पर उनकी विखंडित प्रस्तुति देश-काल विशेष में किसी समुदाय की पीड़ा और भूमिका को चिह्नित करने के अतिरिक्त इतिहास की गतिदायिनी शक्ति को उद्वेलित न कर सकी। इसलिए इस प्रयास ने भी दलित को सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य नहीं दिया।

यह स्थिति केवल दलित विरोधी नहीं पूरे समाज को एक अपूर्ण और असंतुलित आधार पर खड़ा करती है और अपनी अपूर्णता की पहचान करने और उसे दूर करने से भी रोकती है। सच कहें तो वह समाज को वास्तव में पूरी तरह मानवीय और समकालीन बनने से रोकती है।

पहले तो हम आधुनिक इतिहास से कोई एक उदाहरण लेकर उसकी विवेचना से समस्या को समझें और फिर उसके माध्यम से आज के इतिहासलेखन की सीमाएं समझें।

वास्तव में एक बहुत समीचीन उदाहरण उपस्थित है। राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का हिरावल व्यक्तित्व माना जाता रहा है। उन्हें आधुनिक भारत का जनक तक कहने का चलन रहा है। दूसरी ओर ज्योतिबा फुले को दलित चेतना के क्षेत्र में करीब-करीब वही स्थान प्राप्त है। पर सामान्य इतिहास पुस्तकों की स्थिति देखें।

प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालयों के स्तर तक की सामान्य पुस्तकों में राजा राममोहन राय राष्ट्रनिर्माता के रूप में हर कहीं उपस्थित हैं, इतिहासकार किसी भी विचार और विचारधारा का क्यों न हो। निकट अतीत में हुए शोधों में राय की सीमाओं और उनके सुधारों की मध्यवर्गीय प्रवृत्ति उजागर हुई है पर सामान्यतः उन्हें सभी कमोबेश पहला आधुनिक भारतीय मानते हैं—कुछ कुछ यूरोप के संदर्भ में एरासमस जैसा व्यक्तित्व। पर अधिकांश पुस्तकों में फुले का जिक्र तक नहीं होता। महाराष्ट्र में सामान्यतः और देश के पैमाने पर वामपंथी इतिहासकारों ने दलित चेतना को चिह्नित करना शुरू किया है कि इतिहास में दलित पक्ष अभी अनुपस्थित है। इससे

प्रचलित इतिहास को नकारने या उस पर शंका करने का भरपूर आधार दिखाई पड़ता है।

इस स्थिति को समझने के लिए पहले राजा राममोहन राय और ज्योतिबा फुले की भूमिकाओं का विश्लेषण कर लें फिर उनका तुलनात्मक मूल्यांकन करें और वह भी शोध-ग्रंथों के आधार पर नहीं पाठ्य-पुस्तकों के आधार पर, यानी इतिहास को सामान्य जन तक सबसे अधिक ले जाने वाली पुस्तकों के आधार पर, और फिर देखें कि इतिहास में उन्हें जो स्थान दिया जाता रहा है वह क्यों और क्या वह उचित है।

राजा राममोहन राय तो आधुनिक भारत के निर्माताओं में सबसे अधिक प्रतिष्ठित माने जाते रहे हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार अपने समकालीनों में उन्होंने ही सबसे पूर्णता के साथ आधुनिक काल की अर्थवत्ता समझी। पहले मार्क्सवादी इतिहासकार **रजनी पाम दत्त** राजा को 'भारतीय राष्ट्रीयता का पितामह' करार देते हैं।

थोड़ा विस्तार में जाएं तो हम देखेंगे कि राजा नवोदित मध्यवर्ग के सर्वोत्कृष्ट मॉडल थे। वह सर्वोत्तम भारतीय और पाश्चात्य परंपरा के समन्वयक थे। शिक्षित, नागर और मध्यवर्गीय संवेदना का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत करने वाले राय को **बिपन चन्द्र** शेर की तरह साहसी मानते हैं। उन्होंने पारम्परिक रूढ़िवादी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया और सती जैसी भयानक कुरीति को समाप्त करने में अहम भूमिका निभाई। वे वेदांत और अंग्रेजी भाषा के एक जैसे हिमायती थे। उन्होंने राजनीति में भी सांविधानिक विरोध को जरूरी बताया और संकीर्ण जाति-व्यवस्था तथा नारी बंधन की आलोचना की। इस प्रकार पारंपरिक भारतीय समाज के उन मूल्य-मान्यताओं को समाप्त करने पर बल दिया जो भारत के आधुनिकीकरण में बाधक थे।

दूसरी ओर, यूरोप की क्रांतियों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने भारत में उनकी प्रासंगिकता के बारे में नहीं सोचा। भारत में तो वह ब्रिटिश राज को सकारात्मक ही समझते रहे—बस उसके उदार और न्याय, संगत ब्रिटिश न्याय व्यवस्था के अनुरूप ही न्यायसंगत, होने पर बल देते रहे। उनके ब्रह्म समाज में ईसाई उदारवाद का पुट था पर वह सारतः था भारतीय वेदान्त आधारित। राजा राममोहन राय के बारे में किसी भी शिक्षित व्यक्ति को एक रूपरेखा का पता होता ही है। इसलिए उसके विस्तार में यहां न भी जाया जाय तो काम चल सकता है। अगर देखा जाए तो राजा राममोहन राय सुधारवादी थे—भारतीय समाज में सुधार के प्रवर्तक—बिना उसकी आधारभूत संरचना पर तनिक भी प्रहार किए। इसीलिए वह आधुनिक भारत का नेतृत्व करने वाले मध्यवर्ग और ब्रिटिश राज दोनों को एक तरह स्वीकार्य थे।

दूसरी ओर, ज्योतिबा फुले, महाराष्ट्र में माली जाति में जन्मे और उन्होंने स्वाध्याय और संवेदना को ही आधार बना समाज की रूढ़ियों को झकझोर कर रख दिया। वैसे तो उन्हें विशेष रूप से शूद्रों और अतिशूद्रों की गुलामी का ही विरोध करने और नारी शिक्षा में पहल कर पत्नी सावित्री बाई को उस ओर उन्मुख करने के लिए ही विशेष रूप से जाना जाता है। पर उन्होंने विधवाओं, अवैध संतानों, किसानों, मजदूरों, देवदासियों-अर्थात् समाज के हर उत्पीड़ित और दलित समुदाय के लिए अनेक प्रयास किए।

सबसे बड़ी बात यह कि उन्होंने प्राचीन इतिहास के प्रति जनमानस में सन्देह उत्पन्न किया। उनका 'सत्यशोधक समाज' वास्तव में उस जिज्ञासा का जन्मदाता था जो समाज के लिए अनिवार्य है। उनके विचार से प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में नारी श्रेष्ठ है। यह समझने के बाद कि शिक्षाहीन होना शूद्रों के हर दुःख का कारण है, उन्होंने उन्हें शिक्षित करने का बहुविध प्रयास किया। उन्होंने लिखाः

विद्या बिना मति गयी। मति बिना नीति गयी।
नीति बिना गति गयी। गति बिना वित्त गया।
वित्त बिना शूद्र गए। इतने अनर्थ एक अविद्या ने किए।

इसमें मेहनतकश सहज 'कामनसेंस' है जो अनुभव और उसकी समझदारी से जन्मता है। उन्होंने समझ लिया कि जिनके हाथ में अर्थव्यवस्था की बागडोर है उनके ही हाथ में शिक्षा व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और अर्थव्यवस्था की भी बागडोर है। इसलिए एक तरह से उन्हें व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसे समाज में ब्रिटिश राज की स्थापना को उन्होंने दलितों के लिए वरदान समझा।

उन्होंने नवजागरण के मूल प्रश्नों—क्यों, क्या, कैसे को भारतीय समाज के उत्पीड़ित लोगों की समस्याओं के सन्दर्भ में उठाया। उनके लिए ये दार्शनिक प्रश्न नहीं थे। इसलिए उन्होंने कुछ ठोस प्रश्न रखे समाज के सामनेः

1. मनुष्य-मनुष्य में भेद क्यों?
2. स्त्री और पुरुष में भेद क्यों?
3. ईश्वर और भक्त के बीच दलाल क्यों?
4. धर्म भेद और जाति भेद क्यों?

उन्हें मराठी का **टामस पेन** (इंग्लैंड, फ्रांस और अमरीका में क्रांतिकारी विचारों का प्रवक्ता) कहा जाता है। उनकी 1873 में रची 'गुलाम गिरी' नामक पुस्तक को शूद्रों की मुक्ति का घोषणा पत्र कहा जाता है। बीसवीं शताब्दी में राहुल सांकृत्यायन सामाजिक परिवर्तन के लिए लोगों को तैयार करने के लिए लगातार लोगों की भाषा

हिन्दी में दर्शन से नाटक तक लिखते रहे। उसी प्रकार ज्योतिबा फुले भी लगातार मराठी में कविता, नाटक, निबंध लिखते रहे ताकि लोग समझें और उद्वेलित हों। बात को ग्राह्य बनाने के लिए उन्होंने मिथकों में से राजा बली और इतिहास में से शिवाजी को चुना। उनके लिए शिवाजी 'गो-ब्राह्मण' प्रति पालक नहीं 'दीन दलित प्रति पालक' थे।

मराठी में प्रकाशित गुलाम गिरी के प्रथम पृष्ठ पर अंग्रेजी में भी छपा था : (Slavery in the Civilised British Government Under the Cloak of Brahmanism) इसके अलावा यह भी छापा था 'किमत 12 आणे, गरीब शूद्रातिशूद्रांस छ आणे।' इस शीर्षक पृष्ठ से ही फुले की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। वह सभ्य कहे जाने वाले बिट्रिश सरकार पर भी व्यंग्य करते हैं और उपनिवेशवाद को एक लबादा समझते हैं जिसके नीचे ब्राह्मणवाद छ्दम रूप से कार्यरत है। वह अपनी पुस्तक गरीबों तथा दलितों तक पहुंचाना चाहते हैं और उसका दाम आधा कर देते हैं उनके लिए।

यह किताब उसी समय लिखी गयी थी जब अमरीका में गृहयुद्ध समाप्त हुआ था और अब्राहम लिंकन के नेतृत्व में अमरीकी समाज गुलामी की शर्मनाक प्रथा से मुक्त हुआ था। फुले अपनी किताब को अमरीकी जनता को समर्पित करते हैं— राष्ट्रपति को नहीं, जिन्होंने अपने समर्पण से गुलामी प्रथा खत्म की थी और आशा करते हैं कि भारतजन ब्राह्मण-दासता से अपने शूद्रों की मुक्ति के लिए उनसे प्रेरणा लेंगे।

इसके बाद ब्राह्मणवादी मिथकों की एक तरह से पोल खोलते हुए उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों के राज में भी ब्राह्मण वर्चस्व को उजागर करते हुए शूद्रों--अति शूद्रों की गुलामी का अंत करने की वकालत की।

फुले केवल विचारक नहीं थे। एक व्यवहारिक व्यक्ति की तरह सिद्धांत और व्यवहार का समन्वय करते हुए उन्होंने जरूरत के मुताबिक संस्थाएं बनाईं और उनके माध्यम से समस्या का व्यवहारिक हल ढूंढ़ा।

गैल ओमवेट ने महाराष्ट्र के गैर ब्राह्मणवादी आंदोलन का विशद अध्ययन किया है (Cultural Revolt in a Colonial Society : The Non Brahman Movement in Western India 1873-1938) उनके अनुसार इस आंदोलन में दो धाराएं विकसित हुईं— एक तो मध्यवर्गी और पिछलग्गू प्रवृत्ति की साबित हुई। पर दूसरी धारा सारे भारत में निराली थी। इसने अंग्रेजी की जगह मराठी भाषा का इस्तेमाल करते हुए जाति-व्यवस्था पर हमला किया और 'सेठजी-भटजी'

(ब्राह्मण-बनिया संश्रय) के विरुद्ध बहुजन समुदाय के हितों की वकालत की। जाहिर है फुले दूसरी धारा के थे।

बिना छोटा-या बड़ा सिद्ध करने के अनावश्यक आग्रह के हम यही कहना चाहेंगे कि दोनों की भूमिका ऐतिहासिक थी। राजा राममोहन राय औपनिवेशिक स्थिति में उपजे मध्यवर्ग के उपयुक्त प्रतिनिधि थे और बंगाल के नवजागरण की सही और उदात्त तस्वीर प्रस्तुत करते हैं? भारत का शासक वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान और आज तक किसी आमूल परिवर्तन की ओर कदम नहीं बढ़ा सका और धीरे-धीरे पीछे हटता गया है। बंधनों के विध्वंस और नवनिर्माण का साहस भारतीय मध्यवर्ग में कभी नहीं रहा और राजा राममोहन राय ने ऐसे ही नवजागरण की नींव डाली थी। वह अंग्रेजपरस्त थे और उनकी मदद से भारतीय समाज में सुधार करना चाहते थे।

अंग्रेजपरस्त फुले भी थे और उन्होंने 1857 के विद्रोह को भी ब्राह्मणों का षड्यंत्र ही माना था पर उनके सामने उस समुदाय की मुक्ति का प्रश्न था जिसकी गुलामी का कारण देश की पारंपरिक व्यवस्था में था। उसे तोड़े बगैर वास्तविक मुक्ति की कोई संभावना नहीं थी।

दोनों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि राजा राममोहन राय के मुकाबले ज्योतिबा फुले के सरोकार अधिक गहरे थे, अधिक 'रैडिकल' थे। सैद्धान्तिक विवेचन कभी-कभी सबके लिए ग्राह्य और प्रांसगिक नहीं होता पर एक व्यवहारिक तथा सुगम तरीका है परिणामों के माध्यम से चीजों को समझने का। राजा राममोहन राय ने जिन सुधारों और उपकरणों की बात की थी वे समाज को आधुनिक बनाने के लिए जरूरी थे पर उनका क्षेत्र सीमित था और आज 150 वर्षों बाद भी उनसे समाज का अभिजन ही मुख्य रूप से प्रभावित है। हां, यह जरूर हुआ कि उनकी समझ और शक्ति बढ़ी है पर जोतिबा फुले के सुधार समाज में कुछ आधारभूत परिवर्तन के बिना लागू ही नहीं हो सकते थे। उन्होंने जो मुद्दे उठाऐ थे वे सामाजिक परिवर्तन के एजेन्डे पर आज सबसे ऊपर हैं और जो शूद्र-अतिशूद्र उनकी चिंता-चिंतन के केन्द्र में थे वे आज अपनी दलित स्थिति को स्वीकारने को तैयार नहीं हैं। ब्राह्मणवाद जो सामाजिक विषमता को नैसर्गिक मानता है और दलित परिघटना के लिए पूर्णतया जिम्मेदार है, आज तरह-तरह के समझौते कर दलित वर्ग को ललचाए-फुसलाए-भटकाए रखना चाहते हुए भी उसके साथ हाथ मिलाने को तत्पर रहता है। मार्क्सवादी जो जड़सूत्रवादी हो जाने पर सामाजिक यथार्थ की जटिलता को एक मात्र वर्ग माध्यम से ही समझने की जिद पर अड़े थे, आज वर्ग के साथ वर्ण-व्यवस्था को भी यथार्थ की एक

अभिव्यक्ति मानने की समझदारी विकसित करने में लगे हैं। इस तरह देखें तो फुले की भूमिका अधिक निर्णायक सिद्ध होगी ही।

फिर भी इतिहास लेखन में स्थिति क्या है?

स्वतंत्र भारत में दो सबसे प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों को लें। बहुत दिनों तक **आर.सी.मजूमदार, के. के. दत्ता** और **एच.सी.राय चौधरी** की किताब 'ऐन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' कई पीढ़ियों तक मानक टेस्टबुक बनी रही। उसमें राजा राममोहन राय पर तो विस्तार से चर्चा है, कई-कई बार, कई सन्दर्भों में, पर फुले का जिक्र तक नहीं है।

भारत सरकार ने माध्यमिक शिक्षा के लिए मानक पाठ्य-पुस्तकें विकसित करने के लिए 'नेशनल काउंसिल ऑफ एजूकेशनल रिसर्च ऐंड ट्रेनिंग' की स्थापना की। उसने जो पाठ्य-पुस्तकें विकसित कीं उनमें इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों को असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई। उन्हें न केवल स्कूल के विद्यार्थी बल्कि आई.ए.एस. के परीक्षार्थी भी पढ़ने लगे। कहा जाता है कि उन्हें वामपंथी इतिहासकारों ने तैयार किया है। उनमें मॉडर्न इंडिया पर देश के एक प्रखर इतिहासकार बिपनचन्द्र ने लिखा है। इस पुस्तक में भी राजा राममोहन राय पर विस्तार से लिखा गया है। उन्हें 'आधुनिक भारत का पहला महान नेता' बताया गया है जिसने 'जीवन-भर अपने लोगों और देश (फॉर हिज पीपुल ऐंड कन्ट्री) के सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक तथा राजनीतिक पुनर्जागरण के लिए अनथक प्रयास किया।' इस किताब में लोक हितवादी कहे जाने वाले गोपाल हरि देशमुख और गोपाल गणेश अगरकर का तो जिक्र है पर ज्योतिबा फुले का बस एक बार नाम आया है। बाद म फुले को अपना गुरु मानने वाले डॉ. अम्बेडकर को तो महत्व दिया गया है पर फुले की ऐतिहासिकता नहीं चिह्नित की गई है जबकि पारसियों और सिखों के बीच जागरूकता बढ़ने को काफी महत्व दिया गया है।

आजकल आधुनिक भारत के इतिहास के लिए सभी स्तरों पर सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जानी वाली सुमित सरकार की पुस्तक 'माडर्न इंडिया' 1885 से शुरू होती है जब फुले जिंदा थे। इसमें फुले का दो बार जिक्र आता है जो हाल के वर्षों में इतिहास में आए सकारात्मक परिवर्तन का सूचक है पर सरकार भी फुले का उतना विस्तृत वर्णन—विश्लेषण नहीं, करते, जबकि 'कास्ट कांशसनेस' '(जाति चेतना) को महत्वपूर्ण समझते हैं और उस पर विस्तार से लिखते भी हैं।

प्रकट या प्रच्छन्न रूप से शम्बूक विरोधी राम और एकलव्य विरोधी द्रोणाचार्य की व्यवस्था को नैतिक दृष्टि से भी श्रेष्ठ समझने वाले लोग दलित विमर्श को महत्व न दें तो बात समझ में आती है पर वामपंथी कहे जाने वाले साहित्यकार और

इतिहासकार भी दलित पीड़ा के प्रति तदनुभूति (इमपैथी) न महसूस करें तो कारण ढूंढ़ना जरूरी हो जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण है मार्क्सवाद में समाज की वर्ग व्याख्या को पर्याप्त मानकर उसे जड़सूत्र के रूप में लागू करना। भारत का दलित वर्ग कुछ अपवादों को छोड़ प्रायः श्रमिक ही रहा है। एक श्रमिक के रूप में उसका शोषण-उत्पीड़न-वंचना मार्क्सवादी वर्ग-विश्लेषण का आधार रही ही है। ऐसे में उनकी अलग से पीड़ा को समझते हुए भी उसे कारक समझने की जरूरत नहीं समझी गयी।

एक और बात ध्यान आकर्षित करती हैं। दलितों की सामाजिक सांस्कृतिक वंचना को राजनीति में भी मुद्दा बनाकर जब डॉ. अम्बेडकर ने उन्हें संगठित करना शुरू किया तो राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस और कम्युनिस्टों की दो स्पष्ट धारा से अलग अम्बेडकर की तीसरी धारा भी बहने लगी थी। कांग्रेस विदेशी सत्ता से मुक्ति को सभी भारतवासियों का समान संघर्ष बनाकर प्रस्तुत कर रही थी और अन्य तमाम वंचनाओं और अन्तर्विरोधों को बाद के लिए टालने का तर्क देकर बहुमत को लामबंद कर ले रही थी। कम्युनिस्ट विदेशी शासकों से मुक्ति को पर्याप्त न समझ मेहनतकश की मुक्ति पर जोर दे रहे थे और विशेष रूप से शहरी सर्वहारा को संगठित कर समाजवादी क्रांति करने की बात करते थे। तभी सबकी वास्तविक मुक्ति संभव थी। डॉ.अम्बेडकर हिन्दू समाज में अभिशप्त और प्रताड़ित दलित वर्ग की मुक्ति को पहला एजेंडा बनाकर धीरे-धीरे दलितों के सबसे बड़े पैरोकार के रूप में उभर रहे थे। विचारधारात्मक रूप से कम्युनिस्टों और डा. अम्बेडकर के बीच निकटता वांछित ही नहीं संभव भी थी इस मुद्दे का विद्वान चिंतन राव साहब कसबे ने अपनी पुस्तक 'आम्बेडकर और मार्क्स' में विस्तार से विश्लेषण किया है। पर उस समय दोनो ही पूर्वाग्रह ग्रस्त थे। दोनों ने, विशेषकर कम्युनिस्टों ने, दूरदर्शिता और विदग्धता का परिचय नहीं दिया और दोनों के बीच वैमनस्व-सा पैदा हो गया। अम्बेडकर ने कम्युनिस्टों को भी ब्राह्मणवादी करार दिया और कम्युनिस्टों ने अम्बेडकर को अंग्रेजों का पिछलग्गू और दलितों के लिए भटकाव करार दिया। ऐसे में मार्क्सवादी विश्लेषणों में अम्बेडकर का जिक्र तो आने की अनिवार्यता थी क्योंकि डॉ. अम्बेडकर एक शक्तिकेन्द्र बन चुके थे ओर उनकी राजनीति गांधी तक को उलझाने लगी थी। पर फुले तो एक विचारक-सुधारक थे। उन्हें नजरअंदाज किया जा सकता था और किया जाता रहा ।

इतिहास के प्रति दलित दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें वर्तमान परिदृश्य की दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए। महाराष्ट्र में उभरा दलित साहित्य का आंदोलन

आज अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी फैल गया है। इस साहित्य के प्रति मुख्यधारा के साहित्यकारों का दृष्टिकोण पहले तो उपेक्षापूर्ण रहा। पर जब दलित साहित्य ने अपनी जड़ें जमा लीं तो उनसे संवाद शुरू हुआ। अभी भी उनके दृष्टिकोण को ठीक से समझा नहीं जा रहा है। आज दलित तर्क की सबसे सांघातिक मार यह है कि जो दलित नहीं है वह दलित चेतना और पीड़ा को समझ ही नहीं सकता। इस तर्क से वे प्रेमचंद के 'कफन' और निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि रचानाओं पर भी प्रश्न उठा रहे हैं। इन तर्कों को प्रायः खारिज करने का अंदाज यह रहता है कि इनकी मजाल कि प्रेमचंद और निराला पर प्रश्न उठाएं। यह वैज्ञानिक तरीका नहीं है। अप्रश्नेय कोई नहीं है। इस तर्क में अतिरेक भी हो तो इसमें निहित सत्य को, इसके मर्म को, समझना होगा।

दूसरी स्थिति आंध्र के शिक्षक और सामाजिक ऐक्टिविस्ट **कंचा इलैया** की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'मैं क्यों हिंदू नहीं हूं' (Why I Am Not A Hindu) में उजागर हुई है। उनके अनुसार सवाल केवल दलितोद्धार का नहीं है, भारतीय समाज के पुनर्मानवीकरण करने का है और इसके लिए समाज के दलितीकरण का है क्योंकि श्रम के प्रति सही दृष्टिकोण, सामुदायिकता, सामाजिकता और समता अभी भी दलितों में बाकी है।

तो इस प्रकार हम सकारात्मक रूप से लें तो दलित प्रश्न के उजागर होने ने समाज के पुनर्गठन की जटिलता को उजागर कर दिया है और यह इस वक्त गैर दलितों के लिए सहानुभूति या तदनुभूति का मुद्दा नहीं रह गया है। सवाल आत्मानुभूति यानी समग्र भारतीय समाज के आत्मसाक्षात्कार का है। यह सच है कि समाज की सबसे सामान्यीकृत विषमता वर्ग के रूप में ही चरितार्थ होती है पर दलित और नारी की वंचना की एक विशेष कोटि भी है जिसके ठोस ऐतिहासिक कारण हैं और उन पर विशेष ध्यान देने से मुख्य अन्तर्विरोध को हल करने के संघर्ष का आधार विस्तृत होगा तथा और अधिक मजबूत होगा।

दलित साहित्य कोई स्थायी कोटि नहीं है क्योंकि समाज में जाति-व्यवस्था, जिसे कोई जातिवादी राजनीति चिरस्थायी नहीं कर सकती क्योंकि उसका आधार ही दरक गया है, के अंत के बाद धीरे-धीरे समस्त साहित्य सामाजिक यथार्थ की समस्त जटिलताओं और उनकी गति की तथा दिशा को अभिव्यक्त करने लगेगा। फिर अलग से दलित या नारीवादी साहित्य की जरूरत नहीं रह जाएगी।

इसी तरह इतिहास भी समय के हिसाब से बदलता रहा है। आज भी इतिहास में शासकों की रजानीति, अर्थनीति, संस्कृति का ही वर्चस्व दिखता है। ऐसे में

वंचनाओं के शिकार अपने हक और अपनी दृष्टि को चिह्नित करने पर जोर देते रह सकते हैं। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि सही ढंग से मार्क्सवादी इतिहासलेखन न होने के कारण ही सबआल्टर्न इतिहासलेखन को जमीन मिली। पर चूंकि उसकी नीयत और पद्धति वास्तव मे सब आल्टर्न के हित में नहीं थी इसलिए यह प्रयास मध्यवर्गीय उद्वलन तक सीमित रह गया। पर उसने धारणा और पद्धति के तौर पर मार्क्सवादी इतिहासलेखन के सामने एक जरूरी चुनौती खड़ी कर दी।

आज जरूरत है कि इतिहासलेखन में दलित दृष्टि और उनकी वास्तविक स्थिति को चिह्नित किया जाय। तभी इतिहास वास्तव में प्रामाणिक और जन इतिहास बन सकेगा।

कुछ उपयोगी ग्रंथ

हिंदी

1. एस.सी.दुबे	:	परम्परा इतिहास बोध और संस्कृति	नई दिल्ली, 1991
2. सुन्दर लाल	:	भारत में अंग्रेजी राज (दो भाग)	इलाहाबाद, 1929
3. राम मनोहर लोहिया	:	इतिहास-चक्र	1967
4. मुक्तिबोध	:	रचनावली (भाग 4)	नई दिल्ली, 1985
5. राहुल साकत्यायन	:	दर्शन दिग्दर्शन	इलाहाबाद, 1943
		वोल्गा से गंगा	इलाहाबाद, 1944
		अकबर	इलाहबाद, 1956
		बुद्ध दर्शन	इलाहाबाद, 1942
		इस्लाम धर्म की रूपरेखा	इलाहाबाद, 1923
		जय यौधेय	इलाहाबाद, 1944
		मानव-समाज	इलाहाबाद, 1942
		मेरी जीवन-यात्रा (5 भाग)	नई दिल्ली, 1944-50
		मध्य एशिया का इतिहास (दो भाग)	पटना, 1952
6. रामविलास शर्मा	:	स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य	दिल्ली, 1992
		भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद	दिल्ली, 1992
		मानव सभ्यता का इतिहास	1956
7. भगवतशरण उपाध्याय	:	भारतीय संस्कृति के स्रोत	

पत्रिकाएं

1. [illegible]
2. हिंदी [illegible]